उस जनपद का व हू वता संग्रह : 1981)
अरघान (कविता संग्रह : 1984)
I : सी-50, गौरनगर, सागर विश्वविद्यालय, सागर—470003

प्रीति-कथा
नरेन्द्र कोहली

मूल्य : छत्तीस रुपये / प्रथम संस्करण : 1986 / आवरण : सु० चटर्जी
प्रकाशक : किताबघर, मेन बाजार, गांधीनगर, दिल्ली-110031
मुद्रक : संजीव प्रिंटर्स, महिला कालोनी, गांधीनगर, दिल्ली-110031

PRITI-KATHA (Hindi Novel)
By : Narender kohli Price Rs. : 36.00

उस जनपद का क व हू वता संग्रह : 1981)
प्ररधान (कविता संग्रह : 1984)
ा : सी-50, गौरनगर, सागर विश्वविद्यालय, सागर—470003

स्मृति-शेष कक्कू के लिए

उस जनपद का : . हूँ (क · · सग्रह : 1981)
अरघान (कविता संग्रह : 1984)

: सी-50, गौरनगर, सागर विश्वविद्यालय, सागर—470003

पेट्रोल पंप की भीड़ देखकर विनीत का माथा ठनका : पहुंचने में अवश्य ही देर हो जाएगी। यह देश तो बस अब या तो पंक्ति का देश है या भीड़ का। जहां भी जाओ, या तो लंबी-सी पंक्ति होगी, जो आगे सरकने पर ही नहीं आती या फिर बेतरतीब भीड़ होगी—पहलवान मार्का लोगों की भीड़। धक्का-मुक्का। शोर-शराबा। विनीत को लगता है कि न तो उसमें लंबी पंक्ति में खड़े होकर अपनी बारी की प्रतीक्षा करने का धैर्य है और न धक्का-मुक्की कर पाने की क्षमता।

पर पेट्रोल तो लेना ही था।

पेट्रोल की बारी आते-आते वह तय कर चुका था कि वह आज गाड़ी के पहियों की हवा चैक नहीं करवाएगा। हवा थोड़ी कम अवश्य हो गई होगी, पर कोई ऐसी कम भी नहीं हुई थी कि गाड़ी चल ही न सके।

"तुमने पिछली बार भी हवा का काम ऐसे ही टाला था। हवा कब भरवाओगे, जब गाड़ी एकदम बैठ जाएगी ?"

धिक्कार के इस स्वर से उसका खासा परिचय था। उसने उस स्वर को 'विनीत-शत्रु' का नाम दे रखा था। जब-जब किसी काम से उसे परेशानी होने लगती, और वह उसे टालने का प्रयत्न करता, तो यह स्वर उसके भीतर जाग उठता था। यह स्वर उठता और विनीत के द्वन्द्व और गहरा जाते। वह और भी अधिक परेशान हो उठता।···वह जानता था कि जिन कामों को वह टाल रहा है, वे आवश्यक हैं और उन्हें निबटा ही डालना चाहिए। पर उसे लगता था कि प्रकृति ने उसके मन में एक शक्तिशाली चुंबक लगा दिया था। एक विशेष प्रकार के कामों को सुनते ही, उसके मन का चुंबक उनसे चिपक जाता था और दूसरी तरह के काम की चर्चा होते ही, चुंबक वितृष्णा के मारे पीछे हटने लगता था। और जहां उसका मन पीछे हटता था, वहीं यह 'विनीत-शत्रु' अपना चाबुक फटकारने

लगता था।

पेट्रोल लेकर पैसे चुकाए। उसने न 'विनीत-शत्रु' की ओर ध्यान दिया, न उस सेल्समैन की ओर, जो उसकी गाड़ी पर कोई पाउडर मलकर उसे चमकाकर दिखा रहा था।

"मैं जल्दी में हूं।" उसने कहा और गाड़ी आगे बढ़ा दी।

16 मार्च, 1984 की सुबह थी।

मौसम काफी सुहाना था। शीत ऋतु पूरी तरह से विदा हो चुकी थी और ग्रीष्म ऋतु अभी आई नहीं थी। दिल्ली वैसे भी सुंदर नगर है, पर एशियाई खेलों के दौरान इसे और भी सजाया-संवारा गया था। फिर संयोग से तटस्थ देशों के राज्याध्यक्षों का सम्मेलन भी यहीं हुआ। रही-सही कसर तब पूरी हो गई थी। वन-विभाग, उद्यान-विभाग और दिल्ली नगर-निगम—तीनों ने ही मिलकर नई दिल्ली की हर सड़क और हर चौराहे को सजा रखा था। मौसमी फूलों के बीच-बीच, कहीं-कहीं सुंदर गुलाबों के झुंड भी लगे हुए थे।

सहसा विनीत का ध्यान स्पीडोमीटर की ओर चला गया। गाड़ी की गति अस्सी किलोमीटर को भी पार करने जा रही थी।···क्या हो गया था उसे? किस बात की इतनी जल्दी थी? यदि वह सेमिनार में दस मिनट देर से ही पहुंचेगा, तो आकाश नहीं गिर पड़ेगा। ऐसा क्या होगा उस डा० केतकी पैटर्सन के उस पर्चे में, जिसका एक-आध अंश नहीं सुन पाया तो वह वंचित रह जाएगा।···वैसे उसने यह नाम सूची में ही तो देखा था। उसे तो यह भी मालूम नहीं है कि केतकी पैटर्सन दिल्ली पहुंची भी है या नहीं। पर्चा पढ़ भी रही है या नहीं।···अनेक लोग अपनी स्वीकृति तो भेज देते हैं, किंतु किन्हीं कारणों से आ नहीं पाते हैं···

"पर्चा सुनने जा ही कौन रहा है?" विनीत-शत्रु का स्वर बहुत करारा हो गया था, "उत्सुकता तो सारी यही है कि यह उसकी वह पुरानी क्लास-मेट केतकी ही है या कोई और?"

पर इस बार विनीत का मन; विनीत-शत्रु के धिक्कार के सामने चुप

नहीं रहा, "पुराने मित्रों से मिलने की उत्सुकता में क्या दोष है ?"

"वह मित्र नहीं है तुम्हारी।" विनीत-शत्रु भी दबा नहीं, "पुरानी सखी है। तुम जानते हो कि उसके मन में तुम्हारे लिए आकर्षण था। तुम देखने जा रहे हो कि अब भी उसके मन में तुम्हारे लिए कुछ है क्या ?··· पर यह मत भूलो कि अब तुम्हें वह स्वतंत्रता नहीं है। तुम्हारी पत्नी है, बच्चे हैं···केतकी तुम्हारे लिए पराई स्त्री है। उसकी ओर तुम्हारा आकर्षण नैतिक नहीं है···ज़रा-सी असावधानी से तुम्हारा घर बरबाद हो सकता है। उसका परिवार भी बिखर सकता है।···फिर तुम अब बी०ए० के छात्र नहीं हो। ज़िम्मेदार नागरिक हो। दिल्ली विश्वविद्यालय के कालेज के लैक्चरर हो। लेखक के रूप में भी थोड़ा-बहुत जाने ही जाते हो। ऐसी बातें छुपी नहीं रहतीं। जंगल की आग की तरह फैल जाएगी बात। पत्र-पत्रिकाओं में चर्चा होगी···"

विनीत-शत्रु जाने क्या-क्या कहता रहा और विनीत था कि उसकी बात ऐसे सुन रहा था, जैसे कोई बालक मन में यह संकल्प लेकर पिता की बात सुनता है कि उसे वह बात माननी ही नहीं है।

पहले मालूम तो हो जाए, यह वही केतकी है भी या नहीं—उसने सोचा—केवल केतकी नाम से ही तो तय नहीं हो जाता कि यह वही केतकी है। जिस केतकी को वह जानता था, वह केतकी सिन्हा थी। वह विदेश चली गई थी। यह विदेश से आई है और केतकी पैटर्सन है···

तभी उसकी दृष्टि 'अन्तर्राष्ट्रीय अनुवाद सम्मेलन' के बड़े-से बैनर पर पड़ी। बैनर विज्ञान-भवन के गेट के ठीक सामने सड़क के ऊपर-ऊपर लगाया गया था। विनीत ने ठीक उसके नीचे से गाड़ी गेट के भीतर घुमा ली।

गाड़ी को पार्क कर, विज्ञान-भवन की भूल-भुलैयों में से अपना कमरा 'एच' खोजता हुआ, वह जब भीतर प्रविष्ट हुआ तो गोष्ठी की कार्यवाही आरंभ हो चुकी थी। डा० केतकी पैटर्सन अपना पर्चा पढ़ रही थी।···

विनीत दरवाज़े के साथ वाली कुर्सी पर ही बैठ गया। उसके कान जैसे बाहरी आवाज़ों के लिए एकदम बहरे हो चुके थे। वह केतकी का बोला हुआ एक भी शब्द नहीं सुन रहा था। उसके शब्द वर्षा की बूंदों के

समान, विनीत के कानों की बंद खिड़कियों के कपाटों पर धमक तो पैदा कर रहे थे···किन्तु भीतर प्रवेश नहीं पा रहे थे···पर उसकी दृष्टि जैसे कुछ अधिक सतेज हो गई थी। वह केतकी के वर्तमान चेहरे पर से पिछले बीस वर्षों के परिवर्तनों को झाड़-पोंछकर उतार रहा था और डा० केतकी पैटर्सन में से बीस वर्ष पहले की बी० ए० की एक छात्रा केतकी सिन्हा को खोज रहा था···हां! वही थी। तब से काफी बदल गई थी। अब सीधी-सादी दो चोटियां नहीं थीं। बाल कटे हुए थे और एक खास ढंग से संवरे हुए। बीस वर्षों के स्थान पर अब वह तैंतालीस वर्षों की हो गई थी। शरीर पहले की तुलना में कुछ भर तो गया था, किंतु स्थूल नहीं हुआ था। वर्ण पहले से भी अधिक गोरा हो गया था। आंखों पर ऐनक भी लग गई थी···

तभी केतकी ने पढ़ना बंद कर अपनी ऐनक उतारी और तहाकर बटुए में रख ली।

दो-चार तालियां बजीं और बस! अध्यक्ष घोषणा कर रहे थे कि यदि किसी को कोई प्रश्न पूछना हो तो पूछे।

विनीत लगभग खड़ा हो गया। पर सहसा उसे ध्यान आया कि वह पागलपन करने जा रहा है। अध्यक्ष पर्चे में पढ़ी गई बातों के संबंध में प्रश्न करने को कह रहे थे और वह पूछने जा रहा था कि क्या वह जमशेदपुर की केतकी सिन्हा है?···

वह बैठ गया।

केतकी की सहज जिज्ञासाभरी दृष्टि उस तक आई, पर उसे बैठ गया देखकर लौट गई।

अध्यक्ष ने पूछा, "आप कोई प्रश्न कर रहे थे?"

उसने हंसकर 'न' में, मात्र सिर हिला दिया।

और किसी ने भी प्रश्न नहीं पूछा। स्पष्ट ही, वहां उपस्थित सब लोग अपना-अपना पर्चा पढ़ने आए थे। कोई किसी दूसरे को सुनने और उससे बातें करने नहीं आया था।···यह तो अन्तर्राष्ट्रीय गोष्ठियों का स्तर है—विनीत सोच रहा था···

पर तत्काल ही उसका मन दूसरी ओर चला गया।···केतकी ने उसकी ओर देखा अवश्य था, किंतु उसकी दृष्टि में कहीं रत्ती-भर भी

पहचान नहीं थी। कहीं ऐसा तो नहीं कि यह वह केतकी ही न हो ! उसके अपने मन की तृष्णाएं ही उसके साथ छाया-प्रकाश का खेल खेल रही हों।...और यदि, यह वही केतकी हो भी और वह उसे पहचानने से इंकार कर दे, तो ?...

"तेरे साथ यही होना चाहिए, यशस्वी लेखक !" विनीत-शत्रु ने उसे चिकोटी काटी।

विनीत ने—'यह तो बकता ही रहता है'—के अंदाज़ में उसकी उपेक्षा कर दी और फिर से केतकी की ओर देखा।

केतकी के साथ वाली कुर्सी खाली थी और विनीत के भीतर से कोई उसे धक्के मार रहा था, "चल ! उस कुर्सी पर बैठ जा।"

बहुत संभव था कि विनीत सचमुच ही उठ खड़ा होता, पर उससे पहले ही उसे अपने भीतर विनीत-शत्रु का खिलखिलाने को तैयार चेहरा दिखाई पड़ गया।

विनीत सायास अपनी जगह पर जमकर बैठ गया। वह बैठा तो रहा; पर उसका मन किसी भी पर्चे में लगा नहीं। न वह कुछ सुन रहा था; न समझ रहा था। सही मानों में वह वर्तमान को देख भी नहीं रहा था। उसकी आंखों के सामने कई झिलमिलाते पर्दे थे। कभी कोई उठ जाता; कभी कोई।...

बीच में कभी-कभी वह गर्दन उठाकर माइक की ओर भी देख लेता था। किसी पर्चे में तमिल से अंग्रेज़ी में अनुवाद की चर्चा हो रही थी, किसी में गद्यानुवाद और पद्यानुवाद की तुलना की, किसी में अनुवाद की दृष्टि से भारतीय भाषाओं की श्रेष्ठता की, किसी में यूरोपियन भाषाओं की एकसूत्रता की...

विनीत की स्थिति बड़ी ही विचित्र हो रही थी। जो कुछ पढ़ा या बोला जा रहा था, उसमें उसका मन तनिक भी नहीं लग रहा था। कोई और अवसर होता तो ऐसी स्थिति में वह कब का उठकर घर चला गया होता; किंतु केतकी अभी वहीं बैठी थी।

सहसा उसके मन में एक ऊब उठी : डा० केतकी पैटर्सन किसी समय की केतकी सिन्हा है भी तो उससे क्या ? उसके जीवन में कभी केतकी का

महत्त्व था और शायद केतकी के जीवन में भी उसका मत्त्हव था। पर, अब वे दोनों एक-दूसरे के जीवन से दूर जा चुके थे। दोनों का अलग-अलग मिट्टी में विकास हुआ था। अब वे दोनों एक-दूसरे के लिए उतने ही परिचित या अपरिचित थे, जितने ये शेष सब लोग…

सहसा उसे शोभा की बात याद आ गई, 'तुम एकदम अनसोशल हो। हर समय क्या केवल यही सोचा जाता है कि इससे मिलकर क्या होगा ? उससे मिलकर क्या होगा ? क्या कुछ पाने के लिए ही किसी से मिला जाता है ? मिलना-जुलना—सोशलाइज़िग—अपने-आप में ही अपनी उपलब्धि नहीं है क्या ?'

यह शायद शोभा ने तब कहा था, जब वह स्कूल की अपनी किसी पुरानी सहेली से मिलने के लिए तड़प रही थी और विनीत ने उससे कहा था कि 'उससे मिलकर क्या होगा ?'

शोभा की बात से चाहे विनीत सहमत हो गया था, पर उसका न तो व्यवहार बदला था और न मन की कार्य-पद्धति। वस्तुतः, उसे कई बार अपने पुराने मित्रों से मिलकर बड़ी कोफ्त होती थी। उसे लगता था कि वह पुराना मित्र उसके जीवन के एक खंड के एक-आध पक्ष से ही परिचित है और उससे मिलने का अर्थ था, उसी खंड के उसी पक्ष को बार-बार जीना; और यह बार-बार का दोहराया हुआ जीना उसे नीरस और उबाऊ लगता था…

किंतु आज वह केतकी का मोह छोड़ नहीं पा रहा था।…

पर्चे पढ़ते-पढ़ते ही कॉफी-ब्रेक हो गया। वाद-विवाद के लिए समय ही नहीं बचा।…

वह अपनी कुर्सी पर बैठा रहा। केतकी उसके पास से गुज़र गई। न उसकी आंखें विनीत पर रुकीं-ठहरीं, न उनमें कोई पहचान उभरी।…

अब भी यदि उसे केतकी से मिलना था तो उसका एक ही तरीका था कि वह स्वयं उसके पास जाकर बातचीत आरंभ करे और देखे कि केतकी उसे पहचानती है या नहीं।…पर परेशानी यह भी थी कि प्रत्येक विदेशी प्रतिनिधि के पास बहुत-बहुत सारे भारतीय प्रतिनिधि घिरे हुए थे। विदेशी प्रतिनिधियों से इस प्रकार मिलना-जुलना उसे आपत्तिजनक

नहीं लगता था, पर मुखर रूप से अपनी लार टपकाते हुए, अपनी तुच्छता की घोषणा करते हुए भारतीय, उसे न केवल अच्छे नहीं लगते थे, वरन् उसे लगता था कि वे पूरे देश का अपमान कर रहे हैं। यहां ज्ञान के लिए नहीं, जैसे हर व्यक्ति स्वार्थ साधने ही आया था। इन प्रतिनिधियों को लोग ऐसे घेर रहे थे, जैसे इनके माध्यम से वे लोग तुरंत ही यूरोप-अमरीका पहुंच जाएंगे। यूरोप-अमरीका नहीं पहुंचेंगे तो यहां, दिल्ली में इनके दूतावासों में सुरा-पान के लिए तो आमंत्रित हुआ ही करेंगे।

केतकी, एक झुंड से जैसे पीछा छुड़ाकर, सामने की मेज़ पर अपने लिए कॉफी तैयार करने के लिए बढ़ी। विनीत को लगा, यही अवसर था। इससे पहले कि कोई दूसरा झुंड उसको घेर ले, उसे बातचीत कर लेनी चाहिए।

विनीत भी, अपने हाथ में कप लिए हुए, जाकर उसके पास खड़ा हो गया।

केतकी ने कप में कहवा और दूध डाल लिया तो विनीत ने चीनी-दानी बढ़ाई, "चीनी !"

केतकी ने एक चम्मच चीनी लेकर, मधुर-सा 'धन्यवाद' उसकी ओर उछाल दिया। उसने चीनी देने वाले की ओर देखा भी; किंतु उन आंखों में मात्र शिष्टाचार ही था, परिचय नहीं।

अब विनीत से रहा नहीं गया। बोला, "केतकी !"

डा० केतकी पैटर्सन ने पलटकर, एक ठहरी हुई दृष्टि उस पर डाली। दृष्टि में पहचान से पहले असमंजस उतरा; पर असमंजस ठहर नहीं पाया। उसकी आंखों में चमक जन्मी, "अरे विनीत ! तुम ! तुम्हारी इस दाढ़ी ने तो तुम्हें एकदम ही छिपा दिया है।"

विनीत का मन एकदम हल्का हो आया। उसे स्वयं ही ध्यान नहीं था कि केतकी ने उसे कभी दाढ़ी में नहीं देखा। केतकी ने जिस विनीत को देखा था, वह बीस-इक्कीस वर्ष का 'लड़का' सा था। अब जो विनीत वहां खड़ा था वह चवालीस वर्ष का पुरुष था। बेहद घनी और सख्त दाढ़ी में सारा चेहरा ढंका हुआ। इतना ही नहीं कलमों से नीचे की दाढ़ी प्रायः सफ़ेद हो चुकी थी। कई लोग तो उसकी दाढ़ी और उनकी सफ़ेदी

के कारण ही उसे काफी अधिक उम्र का व्यक्ति मान लेते थे।

"दाढ़ी क्यों बढ़ा ली ?" केतकी एक ओर हटकर बोली, "कहां बैठें ?"

"दाढ़ी नहीं बढ़ाई।" विनीत अपनी प्लेट में चिप्स डालते हुए बोला, "बस शेव करनी बंद कर दी।"

"पर बहुत बढ़ गई है। पूरे बाबाजी लग रहे हो।" केतकी हंसी, "संन्यास लेने का इरादा तो नहीं है ?"

"संन्यास तो नहीं ले रहा। अभी बच्चे छोटे हैं।" विनीत भी मेज़ से हट आया, "पर अब अपने-आपको बहुत आकर्षक बनाकर पेश करने की कोई विशेष इच्छा नहीं है! शेव जब बहुत असुविधाजनक लगने लगती है, तो बीच-बीच में शेव से संन्यास ले लिया करता हूं।"

"कोई-न-कोई संन्यास तो ले ही रखा है न!" केतकी, एक कोने में रखे, अपेक्षाकृत एकांत-से सोफे की ओर बढ़ी, "और आकर्षण की भी कोई एक परिभाषा है क्या ? किसी के लिए तुम्हारे क्लीन-शेव्ड चेहरे से अधिक आकर्षक यह दाढ़ी वाला चेहरा हो सकता है।"

सोफे पर बैठता हुआ विनीत हंसा, "यह दाढ़ियाना चेहरा ?"

"हां। क्यों नहीं! किसी की पसंद दाढ़ियाना हो सकती है। किसी को तुम्हारी दाढ़ी में आ गई यह सफेदी की लकीर भा सकती है।" केतकी बोली, "वैसे खासे लेखक-कलाकार लग रहे हो, पर उम्र कुछ ज़्यादा दिखने लगी है।"

"तुम आजकल दाढ़ी पर तो रिसर्च नहीं कर रहीं ?"

केतकी हंसी, "टाल रहे हो। चलो नहीं करते दाढ़ी के विषय में चर्चा। वैसे चर्चा और रिसर्च में कुछ समानता है—ध्वनि-साम्य।"

"है तो।" विनीत बोला, "चर्च और रिसर्च, चर्चा और रिसर्चा।"

"तुम अब भी शब्दों से वैसे ही खेलते हो।" केतकी बोली, "बल्कि अब तो अभ्यास और भी बढ़ गया होगा।"

"वैसे तुम्हारी रिसर्च का विषय क्या है ?" विनीत ने कॉफी की चुस्की ली।

"रिसर्च तो हो चुकी।" केतकी बोली, "टॉपिक था, 'Concepts of

love.' वैसे आजकल उसे मांजने-धोने पर लगी हुई हूं, इसलिए कुछ काम चल भी रहा है।"

"रिसर्च है या बर्तन, जिसे मांज-धो रही हो।" विनीत मुस्कराया, "अरे किसी कलात्मक शब्द का प्रयोग करो—हम उसे परिष्कार-संस्कार कहा करते हैं।..." और अंत में उसने जोड़ा, "वैसे विषय अच्छा है तुम्हारा, प्रेम का तत्त्व-चिंतन ! पर प्रेम-मीमांसा के लिए तुम्हें अमरीका क्यों जाना पड़ा ?"

"अमरीका नहीं, कैनेडा।"

"ओह ! साडा कनाडा।"

"यह क्या हुआ ?" केतकी ने हैरान होकर उसे देखा, "तुक भिड़ा रहे हो ?"

"नहीं। वह आदत नहीं है मुझे।" विनीत ने बताया, "हमारे पड़ौस में एक सज्जन रहते हैं रामलुभाया। बर्षों विदेश में रहे हैं। थोड़ा-सा समय उन्होंने इंग्लैंड में भी बिताया है, पर अधिकांशतः अफरीकी देशों में रहे हैं। कनाडा में भी कुछ वर्ष रहे हैं। वे अफरीका की बात करते हैं, तो बताना चाहते हैं कि वे विदेश की बात कर रहे हैं, पर साथ ही अपनी आत्मीयता भी जताना चाहते हैं, इसलिए कहते हैं—साड्डे फौरेन विच, अर्थात् हमारे विदेश में। कनाडा को वे 'साड्डा कनाडा' ही कहते हैं।"

"ओह !"

"पर केतकी ! क्या प्रेम-चिंतन के लिए वह अधिक उपयुक्त देश है ?"

केतकी हंसी, "प्रेम का देश तो भारत है।"

और फिर न जाने वह कहां खो गई। विनीत को लगा कि केतकी बहुत ही नाटकीय ढंग से उदास हो गई है। वह ऐसी तो नहीं हुआ करती थी। वह कनाडा जाकर अधिक भावुक हो गई है, या बातचीत के बीच इन भंगिमाओं का उपयोग सीख लिया है उसने ?

"वैसे मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी कि तुम मुझे यहां ऐसे मिल जाओगी।" विनीत ने धीरे से कहा, "जब से यह समाचार मिला कि तुम विदेश चली गई हो, तब से एक प्रकार से मान लिया था कि तुम भवसागर में खो गई हो और तुम्हारा पता अब कभी नहीं मिलेगा।"

"ओह ! कितना अच्छा लगता है न सुनना। 'भवसागर'। टिपिकल इंडियन।" केतकी जितने आकस्मिक ढंग से उदास हुई थी, उतने ही आकस्मिक रूप में उससे उबर भी आई, "पर मुझे कभी भी ऐसा नहीं लगा। हिंदी की पत्रिकाओं में तुम्हारा नाम, तुम्हारी रचनाएं और कभी-कभी तुम्हारा चित्र भी मिल जाता था; पर तुम्हारा दाढ़ी वाला चित्र कहीं नहीं देखा मैंने, नहीं तो वहां सेमिनार-रूम में ही तुम्हें पहचान लेती मैं। Otherwise I have not lost your track." केतकी बोली, "मेरे लिए तुम भवसागर में खोए नहीं थे। यूनिवर्सिटी और हाई कमीशन के पुस्तकालयों में तुम्हारी पुस्तकें भी मिल जाती थीं। मैंने पुस्तकों के समर्पणों से समझा है कि तुम्हारा विवाह हो चुका है और शायद दो बच्चे भी हैं तुम्हारे···।"

"सही जानकारी है तुम्हारी।"

"और अभी तक कालेज में ही पढ़ाते हो ?"

"हां। न केवल कालेज में ही पढ़ाता हूं, अभी तक लैक्चरर ही हूं।" विनीत कुछ याद करके हंसा, "मेरा एक कज़न है—चचेरा भाई। वह सेना में है। जब वह सैकेण्ड लैफ्टिनेंट बना था, तब भी मैं लैक्चरर ही था। वह लैफ्टिनेंट बना, कैप्टन बना, मेजर बना और अब लैफ्टिनेंट कर्नल बन गया है। जब भी मिलता है, पहला प्रश्न पूछता है, 'स्टिल ए लैक्चरर?' मैं कहता हूं, 'हां।' तो बहुत परेशान होकर कहता है, 'पर यार! तेरा रिकार्ड तो बहुत अच्छा है।' मैं हंसकर टाल देता हूं। एक सैनिक को यह समझाना बहुत मुश्किल है कि एक व्यक्ति योग्य भी हो, परिश्रमी भी हो, और उसका रिकार्ड भी अच्छा हो, तो भी उसकी पदोन्नति क्यों नहीं होती।"

"मुझे समझा सकते हो ?"

"क्यों नहीं !" विनीत हंसा, "सीधी-सी बात है कि मैं अपने किसी भी यूनिवर्सिटी हैड के इतने निकट नहीं गया कि मैं उसका इतना प्रिय हो जाता कि वह मुझे रीडर बनाकर यूनिवर्सिटी में बुला लेता···।"

"पर क्यों नहीं गए तुम उनके इतने निकट !" वह बोली, "After all it should not have at all been difficult for you with all

your published books and that too of creative writing."

"यह तो नीति की बात है।" विनीत ने उत्तर दिया, "यूनिवर्सिटी हैड के निकट इसलिए नहीं पहुंच सका, क्योंकि वहां तक पहुंचने का रास्ता न योग्यता है, न श्रम! जो दूसरे रास्ते हैं, उन पर चलने की अनुमति न मेरा स्वाभिमान देता है, न काम।"

"काम क्या कहता है?"

"समय मिलते ही लिखने के लिए अपनी मेज़ से चिपक जाता हूं, इसलिए किसी हैड से चिपकने का समय ही नहीं बचता।" विनीत हंस पड़ा, "और हैड लोग कहते हैं कि मेज़ इतनी प्यारी है तो उसी से ले लो रीडर और प्रोफेसरशिप।..."

एक सज्जन आए, "You are Dr. Patterson from Canada?"

"जी।" केतकी हिंदी में ही बोली।

"जी मैं हूं शोक-संतप्त। डा० शोक-संतप्त।" उसने अपने दांतों के साथ-साथ मसूड़ों के एक बड़े भाग की प्रदर्शनी कर दी।

विनीत के मन में आया, कहे, 'डा० के साथ, शोक-संतप्त के स्थान पर रोग-संतप्त शब्द ज़्यादा अनुकूल बैठेगा।' और साथ ही विनीत ने अनुभव किया कि उसके भीतर विनीत-शत्रु बहुत उल्लसित होकर उसे उकसा रहा है, 'कह दे। मजा आ जाएगा।'

विनीत संभल गया। कहीं यह विनीत-शत्रु उसे फंसा ही न दे।

"कहिए!"

"जी! मैं कवि हूं।" डा० शोक-सतप्त मुस्कराए ही जा रहे थे, "कनाडी कविता की प्रकृति समझने के लिए आपके साथ थोड़ी देर के लिए बैठना चाहता हूं..."

"लंच के बाद बैठेंगे।" केतकी ने उसकी बात पूरी नहीं होने दी। वह विनीत की ओर घूम गई, "तो तुम्हारी मेज़ तुम्हें रीडरशिप नहीं दे सकती क्या?" केतकी के स्वर में ईमानदार जिज्ञासा बोल रही थी, "तुम्हारे लेखन के आधार पर तुम्हें यूनिवर्सिटी में ऊंचे से ऊंचा पद मिल सकता है।"

"अब तक न भी लगा होता, तो अब लग रहा है कि तुम कनाडा से आई हो।"

"क्यों ?"

"हमारी यूनिवर्सिटियों में सर्जनात्मक लेखन के लिए कोई स्थान नहीं है।"

"आखिर साहित्य में पढ़ाया तो सर्जनात्मक लेखन ही जाएगा।"

"मजबूरी में पढ़ाते हैं।" विनीत बोला, "इनका बस चले तो ये लोग पाठ्यक्रम में भी प्रोफेसर-हैड की लिखी आलोचनात्मक कुंजियां ही पढ़ाएंगे। यहां तो हालत यह है कि यदि नियुक्ति के लिए इनके सामने बाबा तुलसीदास हों और उनके साथ दूसरे प्रत्याशी बालकांड के कुंजी लेखक जहांगीर प्रसाद हों, तो नियुक्ति जहांगीर प्रसाद की ही होगी, क्योंकि उसे आलोचक माना जाएगा और आलोचक सदा ही विद्वान् भी होता है और प्रोफेसर-हैड के गोत्र का भी।"

केतकी उसे चुपचाप देखती रही। फिर बोली, "तुम गलत जगह फंस गए लेखक !" फिर रुककर बोली, "चलो, यह तो एक मोर्चा है। यह बताओ कि दूसरा मोर्चा कैसा चल रहा है ?"

विनीत कुछ बोला नहीं। बस देखता रहा।

"नहीं समझे ?"

"नहीं।"

"विवाह किससे किया है—वह जो तुम्हारी एम० ए० वाली प्रेमिका थी, उससे ?"

विनीत ने चारों ओर दृष्टि घुमाई : नहीं ! बहुत निकट कोई नहीं था। केतकी शायद नहीं समझ रही थी कि यह विषय कितना नाजुक है। वह तो एक-आध सप्ताह में वापस लौट जाएगी, पर उसके एक-आध वाक्य को पकड़कर यहां पीछे विनीत को महीनों परेशानी झेलनी पड़ सकती है।···उसने देखा, एक कोने में खड़ा कवि डा० शोक-संतप्त ज़रूर उनकी ओर देख रहा था। शेष सब लोग कहीं-न-कहीं व्यस्त थे।

"नहीं !" विनीत बोला, "उससे विवाह नहीं हो सका।"

"दुखी हो ?"

"नहीं ! कोई ऐसा दुखी भी नहीं हूं।"

केतकी सोफे पर ज़रा पसर-सी गई, "विस्तार से बताओ।"

विनीत कुछ देर चुपचाप बैठा सोचता रहा कि कहां से शुरू करे। फिर जैसे स्वयं को कुछ हल्का करने के लिए हंसा, "एम० ए० का वह प्रेम बड़ा विचित्र था।"

"प्रेम होता ही विचित्र है।" केतकी बोली, "विचित्र न हो तो प्रेम और शापिंग में अंतर ही क्या रह जाए।"

"हां। तुम्हारा तो थीसिस ही प्रेम के विषय में है।" विनीत बोला, "पर यह प्रेम, बाकी प्रेमों से भी विचित्र था।"

"कैसे ?"

विनीत जैसे कुछ याद करता हुआ बोला, "वह एम० ए० का प्रेम था।"

केतकी हंसी, "प्रेम की बात कर रहे हो या कोर्स की ? वह एम० ए० का प्रेम था। वाह !" वह हंसती चली गई।

विनीत कुछ देर तक उसे चुपचाप देखता रहा, फिर स्वयं भी हंस पड़ा, "हां ! बात तो कुछ ऐसी ही हो गई है। बी० ए० तक जमशेदपुर में मैं अपने घर में रहता था। वहां हमारा परिवार जाना-पहचाना था। ···यहां दिल्ली में, मैं होस्टल में रहता था। 'बाहर से आया व्यक्ति' था। कोई नहीं जानता था कि मैं कौन हूं, किस परिवार का हूं। परिवार के लोग कौन हैं, कैसे हैं। मैं जिज्ञासा की वस्तु हो सकता था, प्रेम की नहीं—एक अपरिचित, एक परदेसी।"

"पर भारत के सारे लोक-गीतों में गांव की गोरियां परदेसी से ही प्रेम करती हैं—दिल्ली की लड़कियां इतना भी नहीं जानतीं ?"

विनीत मुस्कराया, "दिल्ली की लड़कियां, गांव की गोरियां नहीं हैं, नागर-कन्याएं हैं—चतुर-चालाक। सब कुछ सोच-समझकर कदम उठाने वाली।"

"धोखा दे गई ?"

"नहीं ! उसे धोखा भी क्या कहना।" वह रुक गया, "इसीलिए कहा न कि वह प्रेम ही बड़ा विचित्र था।"

केतकी गभीरतापूर्वक सुनने की मुद्रा में बैठी रही।

"असल में दिल्ली आकर, मेरी अपनी स्थिति और मनःस्थिति, दोनों ही बदली हुई थीं।" विनीत बोला, "पहली बात तो यह थी कि पढ़ाई के ये अंतिम दो वर्ष थे। एम० ए० की डिग्री पर ही, आगे का सारा जीवन टिका हुआ था। इसलिए पढ़ाई की ओर कुछ अधिक ही ध्यान था। मन में बहुत स्पष्ट था कि यदि एम० ए० में प्रथम श्रेणी आ गई तो लैक्चररशिप मिल जाएगी और आगे का सारा जीवन लिखने-पढ़ने में सुविधा से बीतेगा और आर्थिक तंगी भी कोई विशेष नहीं रहेगी। और यदि प्रथम श्रेणी न आई तो लेखन से जो कुछ हो, सो हो, पर नौकरी तो स्कूलमास्टरी से अधिक की कुछ नहीं मिलेगी। इसलिए पढ़ाई की ओर अधिक ध्यान था।..."

"प्रेम की ओर कम!"

"ध्यान तो प्रेम की ओर भी था," विनीत बोला, "पर परीक्षा में अच्छे अंक लाना अपना लक्ष्य था; प्रेम करना कोई लक्ष्य तो था नहीं, मजबूरी चाहे रही हो।...तुमने तो शोध किया है। बताओ, यह जीवन का लक्ष्य हो सकता है क्या ?"

"तुम्हारी भाषा अभी भी दूषित नहीं हुई है।" केतकी ने कहा, "पहले जमशेदपुर की उस मिली-जुली भ्रष्ट भाषा से बड़ी कठिनाई से पीछा छुड़ाया था, फिर कैनेडा चली गई। वहां हिंदी बोलने का अभ्यास बहुत कम हो पाता है। अंग्रेज़ी से पीछा छुड़ाना मुश्किल है। बहुत प्रयत्न के बाद किसी प्रकार दो-चार वाक्य ठीक-ठाक हिंदी बोल पाती हूं।"

"तुम तो कनाडा में हो। यहां तो दिल्ली में बैठे-बैठे ही लोग अंग्रेज़ हो गए हैं।" विनीत बोला, "एक तो वे लोग हैं, जो अंग्रेज़ी में इतना ज़्यादा पढ़ते-लिखते हैं कि बेचारे हिंदी को ठीक से बोल और लिख नहीं पाते। दूसरे वे लोग हैं, जो अपने सामाजिक और मानसिक पिछड़ेपन का कलंक धोने के लिए एकदम अनर्गल ढंग से अपनी भाषा में अंग्रेज़ी के शब्द ठूंसते जा रहे हैं; और एक वर्ग वह भी है, जिसका अपना न कोई विचार है, न नीति। वह तो बहती हवा के साथ उड़ता चलता है। इसलिए उसकी भाषा में दुनिया-भर के उलटे-सीधे शब्द हास्यास्पद रूप में सम्मिलित होते

जाते हैं।"

"खैर, तुम इस भाषा को छोड़ो," केतकी बोली, "अपने प्रेम की भाषा बोलो।"

"हां! प्रेम की भाषा।" विनीत को जैसे अपनी विचार-शृंखला को जोड़ने में कुछ समय लगा, "मैं यह कह रहा था कि दिल्ली आने का मेरा लक्ष्य प्रेम करना नहीं था···I was not on a mission of love."

"तुमने सूफी काव्य नहीं पढ़ा ?" केतकी ने फिर टोक दिया, "वे तो मानते हैं कि मानव-जीवन का लक्ष्य ही प्रेम करना है।"

"कनाडा में तुम्हारी बुद्धि को धार लग गई है क्या !" विनीत बोला, "असल में मैं ही तुम्हारी जिज्ञासा को गंभीरता से ले बैठा था। मैंने समझा, शायद तुम वस्तुतः मेरे जीवन के विषय में जानना चाहती हो। नहीं तो आमतौर पर मैं अपनी प्रेम कहानियां सुनाने को इतना उत्सुक नहीं रहता हूं।" वह उठकर खड़ा हो गया, "कॉफी का एक प्याला और लोगी ?"

केतकी के चेहरे पर जैसे कुछ बुझ गया। उसकी आंखें विनीत की ओर उठीं तो उनका अपराध-बोध खासा स्पष्ट था। बोली, "बुरा मान गए ?"

"नहीं! बुरा मानने की क्या बात है!" विनीत मुस्कराया, पर अपनी कटुता को छिपा नहीं पाया, "रहिमन निज मन की बैथा, मनहि राखो गोय।"

लगा, केतकी कुछ और बुझ गई, "मैं भूल गई थी कि हम बहुत वर्षों के बाद मिल रहे हैं। इस लंबे अंतराल में बहुत कुछ बदला है। तुम अधिक संवेदनशील और अधिक स्वाभिमानी हो गए हो और मैं तुम्हारे जीवन से काफी दूर चली गई हूं।···मुझे गलत भी समझा जा सकता है।"

"कॉफी नहीं लोगी क्या ?" विनीत जैसे इस विषय को टाल रहा था।

"शायद बहुत दिनों के बाद तुमसे इस प्रकार मिलने के उल्लास ने ही मुझे इस प्रकार वाक्-चंचल बना दिया है।" केतकी धीरे से बोली, "खैर, अब नहीं टोकूंगी।"

वह सायास मुस्कराई।

विनीत उखड़ा तो उखड़ ही गया। उसका मन कुछ कहने को नहीं हो रहा था। सुनाने की इच्छा का स्रोत ही जैसे सूख गया था। उसे लगा; उसके प्रेम के क्षण नितांत उसके अपने थे—हृदय में कहीं बहुत गहरे, संजोकर रखे हुए। उन क्षणों को इस प्रकार उघाड़कर किसी के भी सामने रख देना उचित तो नहीं था। वह 'किसी' चाहे केतकी ही क्यों न हो।… बाहर तो परिहास की आंधियां चलती ही रहती हैं। उसका वह प्रेम…चाहे असफल ही सही…उसके लिए आज भी सम्मान की वस्तु था। वह उसके उस घाव के समान था, जिस पर कोई असहानुभूतिपूर्ण दृष्टि पड़ जाए, तो वह पीड़ा से धधक उठता था।

"नहीं बताओगे ?"

"निकल मत बाहर दुर्बल आह। लगेगा तुझे हंसी का शीत !"

"I am sorry Vineet."

अपने उखड़ेपन से मुक्त होने के लिए विनीत को प्रयत्न करना पड़ा, "फिर कभी सही। देखो ! लोग सेमिनार हॉल की ओर जा रहे हैं। अगला सेशन शुरू होने वाला है।"

"होने दो।"

"अरे उसमें बड़े-बड़े धाकड़ लोग बोलेंगे।"

केतकी अपनी जगह से हिली तक नहीं, "हम तो अभी और कॉफी पिएंगे। यहीं बैठेंगे। तुमसे तुम्हारी प्रीति-कथा सुनेंगे—Love Story."

"तुम इस सेमिनार के लिए कनाडा से आई हो।"

"पेपर पढ़ चुकी हूं। हो गया सेमिनार।" केतकी बोली; "मेरा अध्ययन का विषय है : Concepts of love. मेरे लिए सेमिनार के अनुवाद-संबंधी विषयों से यह विषय ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है।"

"मुझे केस-हिस्ट्री बना रही हो ?" विनीत स्वयं नहीं समझ पा रहा था कि उसके स्वर में परिहास था या क्षोभ।

"क्या हर्ज है ?" केतकी आश्वस्त स्वर में बोली, "तुम्हारा सत्य क्या शोध का सत्य नहीं हो सकता ? मेरी धारणा है कि तुम्हारा सत्य मेरे शोध के निष्कर्ष तय करेगा। तुम्हारी संवेदना, ईमानदारी और

विश्लेषण-क्षमता···" वह मनुहार में लिपटकर हंसी, "काफी चापलूसी कर दी मैंने। अब तो पिघल जाओ!"

सब लोग अपने-अपने कमरों में जा चुके थे। मेजें खाली हो गई थीं। बैरे सामान समेट रहे थे। विनीत समझ रहा था कि ऐसी कोई बात नहीं हुई थी, जिससे वह इतना नाराज़ हो जाए। और वह नाराज़ था भी नहीं। बस मन था कि उखड़ गया था।···

वह टहलता हुआ मेज़ की ओर चला गया, "दो कप कॉफी।"

बैरे ने उसे कुछ वक्र दृष्टि से देखा। पर कॉफी के दो प्याले बना दिए।

उसने एक प्याला केतकी की ओर बढ़ाया और सायास मुस्कराकर बोला, "मैं ज़रा अपनी मुरम्मत कर लूं।"

केतकी उसके भीतरी संघर्ष को भांप गई। उसके प्रयत्न का स्वागत-सा करती हुई मुस्कराई, "रिपेयर के अर्थ में या पिटाई के अर्थ में?"

"पुराने की तोड़-फोड़ और नए का निर्माण।"

विनीत अपने मन को डपट रहा था : 'क्या अभद्रता है। ऐसा क्या हो गया है, जिससे इतने दिनों के पश्चात् इतनी दूर से आई, अकस्मात् मिल गई केतकी से वह ऐसा रूठ बैठा है···'

उसने केतकी की ओर देखा : लगा, काफी उदास है, नहीं परेशान है···अपसेट है···

केतकी ने उसकी ओर देखा, "विनीत! चलो मुझे अपने घर ले चलो। तुम्हारी पत्नी और बच्चों से मिलूंगी।"

"घर नहीं चल सकते।" न चाहते हुए भी विनीत को कहना पड़ा।

"क्यों?" केतकी हतप्रभ रह गई, "अगला सेशन अटैंड करना चाहते हो या मुझे अपने घर नहीं ले जाना चाहते?" केतकी की आंखों में से पीड़ा झांक रही थी, "मैं इतनी पराई हो गई हूं?"

विनीत को उसकी पीड़ा छू गई।

"नहीं! यह बात नहीं है।" वह कुछ सहज हुआ, "शोभा—मेरी

पत्नी, घर पर नहीं है।"

"मायके गई है ?"

"मायके ही समझ लो।" विनीत बोला, "बच्चों को लेकर अपनी बहन के घर गई है।"

"शाम तक लौट आएगी ?"

"नहीं ! चंडीगढ़ गई है, एक सप्ताह के लिए।"

"डरते हो कि पत्नी लौटकर आएगी तो उसे पता चलेगा कि उसकी अनुपस्थिति में तुम्हारी एक पुरानी सखी—क्या कहेंगे. सखी ही कहेंगे न महिला मित्र को ?—तुम्हारे साथ घर पर आई थी ?"

"नहीं। डरता हूं कि तुम्हारे पति को मालूम होगा तो···"

केतकी मुस्कराई, "तुम्हें मेरे पति के विषय में मालूम नहीं है।" उसने विनीत का हाथ पकड़कर उठाया, "आओ ! तुम्हें अपने पति के विषय में भी बताऊंगी। तुमने अभी तक मेरे विषय में तो कुछ पूछा ही नहीं है।"

विनीत का ध्यान दोनों ओर गया : सारा हॉल खाली पड़ा था और सामान समेटते हुए बैरे उन्हें घूर रहे थे।···दूसरी ओर, केतकी सच कह रही थी। अभी तक उसके विषय में कुछ पूछने का अवसर ही नहीं आया था···

"चलें ?" केतकी पूछ रही थी।

"चलो।"

विनीत चल तो पड़ा, पर उसके मन में अनेक द्वन्द्व जड़ जमाते जा रहे थे।···वह तो यही सोचकर आया था कि दोपहर का खाना यहीं खाएगा। घर पर तो कुछ भी बना हुआ नहीं था। अब उसके घर जा रहे हैं तो खाना खिलाने का दायित्व तो उसी का है।···पर दूसरे ही क्षण एक अन्य विचार ने सिर उठाया···समय पड़ने पर वह ऐसा कंजूस क्यों हो जाता है ? घर में अतिथि आते हैं, तो वह खर्च नहीं करता क्या ? केतकी अतिथि नहीं है क्या ? या वह इतनी अवांछनीय है कि उसके आने की उसे तनिक भी प्रसन्नता नहीं हुई ?···और विनीत का जड़ीभूत उल्लास जैसे फिर से जाग उठा···मान लो, शोभा घर पर ही होती और ऐसे में वह केतकी को यहां मिलता तो क्या वह उसे घर नहीं ले जाता ? घर ले जाता

तो बिना खाना खिलाए भेज देता ? खाना खिलाता तो भागकर बाज़ार से कुछ फल, सब्जियां और मिठाई इत्यादि नहीं लाता ? उसमें उसका कुछ खर्च नहीं होता ?

उसने अपना सिर झटक दिया।

डायनिंग हॉल से बाहर निकल, वे लोग सीढ़ियों से ही नीचे उतरे। ऊपर चढ़ने के लिए तो विनीत लिफ्ट का प्रयोग करता था, पर उतरते समय न उसे लिफ्ट की प्रतीक्षा अच्छी लगती थी और न बीसियों लोगों के साथ लिफ्ट के उस डिब्बे में ठुंसकर उतरना अच्छा लगता था। केतकी से उसने पूछा ही नहीं कि लिफ्ट से जाना चाहेगी या नहीं। वह रास्ता दिखाता हुआ नीचे उतर आया और केतकी पीछे-पीछे आती चली गई।

भवन के मुख्य द्वार से बाहर निकले तो उसकी दृष्टि अहाते की फुलवारी की सजावट पर अटक गई।···कैसे-कैसे जंगली पौधों को सैकड़ों की संख्या में एक साथ उगाकर, उद्यान-विभाग वाले, उसमें भी एक सौन्दर्य पैदा कर देते हैं···

"क्या देख रहे हो ?"

"समूह का सौन्दर्य।" विनीत ने कहा और आगे बढ़ गया।

पता नहीं, केतकी उसकी बात समझ भी पाई थी या नहीं, पर वनस्पति की ओर ध्यान उसका भी गया था।

"हमारे उस विदेश में तो अभी बर्फ का साम्राज्य है और यहां देखो, चारों ओर वसंत का पसारा है।"

"साडे फारेन में।" विनीत गुनगुनाया।

"क्या ?"

"वसंत में दिल्ली बहुत सुंदर हो जाती है।" विनीत बोला, "तुम्हें भी कुछ शौक है फूल-पौधों का ?"

"शौक किसे नहीं होता। पर वहां पहुंचते ही समय की बहुत कमी हो जाती है।" केतकी बोली, "एक बात तो यह है कि वहां, भारत के समान नौकर-चाकर नहीं मिलते, सारा काम स्वयं करना पड़ता है; और दूसरे हम सारे भारतीय जो विदेश में टिके हुए हैं, मात्र पैसा कमाने के लिए। इसलिए हम लोग कुछ अधिक ही व्यस्त हो जाते हैं।"

विनीत को अपना सहयोगी कपूर याद आ गया। वह अमरीका से लौटा था तो बहुत पीड़ा से बताता था कि वहां भारतीय लोग किस प्रकार कौड़ी-कौड़ी को दांत से पकड़ते हैं। 'यार,' उसने कहा था, 'कोई अमरीकी लड़की भारतीय लड़के के साथ घूमना पसंद नहीं करती। रेस्त्रां में घुसते ही हिंदुस्तानी लोग अपने डालर गिनने लगते हैं। सारे रोमांस की ऐसी-तैसी फेर देते हैं, कंजूस-मक्खीचूस। यहूदियों को मात कर रहे हैं।'

और तब उसे बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश से दिल्ली में आए हुए मज़दूर याद आ गए थे, जो अधिक से अधिक कमाना चाहते थे और ज़्यादा से ज़्यादा बचाना चाहते थे। अपने खाने, पहनने और रहने पर कम से कम खर्च कर सारा पैसा पहली तारीख को अपने गांव भेज देते थे।

"पर तुम तो अब भारतीय नहीं हो शायद।" विनीत बोला, "कनाडा की नागरिकता ले चुकी या नहीं?'

"ओह! हां!" केतकी हंसी, "प्रशासन के कागज़ों पर अब मैं कैनेडियन हूं। पर प्रकृति ने तो मुझे भारतीय बनाकर ही पैदा किया था। जब-जब प्रशासन को भुला देती हूं, अपनी प्रकृति ही याद रह जाती है। तब भारत मुझे बहुत खींचता है।"

"हां! बहुत लोग इमोशनल बैटरी चार्ज कराने के लिए कुछ देर के लिए भारत का चक्कर लगा जाते हैं।" विनीत ने कहा, "आओ चलें।"

बाहरी गेट की ओर बढ़ते हुए केतकी ने पूछा, "सवारी है तुम्हारे पास?"

"हां। आज गाड़ी लाया हूं।"

"गाड़ी है?"

"तुम्हारे जैसी नहीं होगी। एक सैकेंड हैंड फिएट है।"

"और मकान?"

"हां। एक छोटा-सा मकान भी है।"

गाड़ी बाहर निकलकर, मौलाना आज़ाद रोड पार कर, रफी मार्ग पर आ गई तो केतकी बोली, "After all यहां भी लेखक अच्छी तरह ही

जीता है। उतना बुरा स्तर नहीं है, जितना लोग कहते हैं।"

विनीत हंसा, "इसलिए गाड़ी और मकान की बात कर रही थीं तुम ?"

केतकी ने उसे देखा : नहीं, नाराज़ नहीं था वह। वह खुली, "असल में हम लोग आजीविका के लिए विदेशों में टिके हुए हैं। यद्यपि मैं वहां की नागरिकता ले चुकी हूं, डा० पैटर्सन से विवाह कर चुकी हूं, पर मेरा मन एक साधारण भारतीय के समान ही सोचता है। अनजाने ही हम लोग हर क्षण वहां और यहां की तुलना करते रहते हैं। हमारा मन हमें धक्के मार-कर अपने देश भेजना चाहता है और बुद्धि यह समझाती रहती है कि जीवन की जो सुविधाएं विदेश में मिल रही हैं, यहां नहीं मिलेंगी। इसी-लिए जब हम अपने ही वर्ग के किसी व्यक्ति को यहां ढंग से रहते देखते हैं, तो इच्छा होती है कि हम भी लौट आएं।"

"हां। यह तो है।" विनीत ने कहा, "हम भी यही सोचते हैं कि यदि विदेश ही जाना है तो कुछ इतना अधिक मिलना चाहिए कि प्रवास का कष्ट हल्का लगे। नहीं तो यहीं, हम क्या बुरे हैं ?"

"यही तो कह रही हूं मैं।"

"पर यह सब कुछ लेखक की आय से नहीं है।" विनीत बोला, "हम दोनों नौकरी भी तो करते हैं।"

"यदि तुम नौकरी न करो तो ?"

"तुम्हारा मतलब है, केवल लेखकीय आय ?"

"हां।"

"लेखक की आय बहुत अधिक नहीं है, नियमित और निश्चित भी नहीं है। मेरे जैसा आदमी उस पर निर्भर रहकर परिवार नहीं चला सकता।" विनीत बोला, "उसके बल पर जीवन आरंभ तो किया ही नहीं जा सकता। हां ! जीवन की संध्या तक इतनी पुस्तकें हो जाएं कि न-न करते हुए भी कुछ मिल जाए और परिवार के दायित्व पूरे हो चुके हों, तो शायद पेंशन के रूप में उससे गुज़ारा हो जाए।"

"वैरी सैड !"

गाड़ी कनाट प्लेस में क्वालिटी के सामने रुकी तो केतकी चौंकी, "यह

तुम्हारा घर है क्या ?"

"नहीं !" विनीत थोड़ा झेंपा, "घर में लंच के लिए कुछ नहीं है। सोचा, यहां से कुछ पैक करा लूं।"

"तो कहीं से कुछ सब्ज़ियां ले लो। मैं रेस्ट्रां का खाना नहीं खाना चाहती।"

"सब्ज़ियां तो हैं घर में।"

"तो ठीक है।"

"शोभा घर में नहीं है। खाना बनाएगा कौन ?"

"आज मेरे हाथ का बना ही खा लो।" केतकी मुस्कराई, "या भारतीय पति, केवल अपनी पत्नी के हाथ का पका ही खाता है ?"

विनीत के सारे शरीर में एक सिहरन दौड़ गई।

"Are you sure ?"

"अरे हां ! आओ बैठो।" केतकी बोली, "तुमने तो मुझे एकदम ही मेहमान समझ लिया है। वैसे भी भारत की सब्ज़ियां पकाए बहुत दिन हो गए हैं मुझे।"

विनीत आकर गाड़ी में बैठ गया। कनाट प्लेस में उसका सारा ध्यान ट्रैफिक की ओर रहा, पर खुले में आते ही बोला, "हां ! तुम अपने विषय में बताओ। विवाह ? संतान ? परिवार ?"

"एक अदद पति और कोई बच्चा नहीं। न सास, न ससुर। न ननद, न देवर-जेठ।"

"क्या मतलब ?"

"मतलब यह कि डा० डेविड पैटर्सन अपने माता-पिता की इकलौती संतान हैं। अब उनके माता-पिता जीवित नहीं हैं। और संतान का शौक न उन्हें है, न मुझे।"

"तुम्हारे पति कनाडियन हैं ?"

"नहीं। अमरीकी।" वह झेंपी, "वही प्रशासन के कागज़ों पर कैनेडियन और प्रकृति के खाते में अमरीकन।"

"क्या करते हैं ? मेरा मतलब है, व्यवसाय ?"

"विश्वविद्यालय में भारतीय दर्शन पढ़ाते हैं।"

विनीत थोड़ी देर तक चुप रहा, जैसे कुछ निर्णय कर रहा हो। फिर बोला, "एक बहुत ही व्यक्तिगत प्रश्न पूछूं ?"

"पूछो।"

"भारतीय पुरुष को विदेशी लड़कियों का रंग-रूप बहुत जल्दी भा जाता है, विशेषकर गोरी लड़कियों का।" उसने ध्यान से केतकी को देखा, "क्या उसी प्रकार भारतीय लड़कियों को विदेशी पुरुष पसंद आ जाते हैं ?"

"सारी भारतीय लड़कियों की बात मैं कैसे कहूं ! मैं तो केवल अपनी बात ही कह सकती हूं।"

"हां ! हां ! अपनी ही कहो।"

सहसा केतकी ने सड़क की ओर देखा : लंबी खुली सड़क।

"यह कौन-सी सड़क है ?"

"अब हम रिंग रोड पर आ गए हैं।"

"तुम्हारा घर बहुत दूर है क्या ?"

"कुछ तो दूर है ही," विनीत बोला, "कुछ मैंने दूर बना दिया है।"

"क्या मतलब ?"

"सीधा और छोटा रास्ता छोड़कर लंबा और खुला रास्ता ले लिया है।"

"For the pleasure of driving ?"

"नहीं ! तुम्हें दिल्ली की भीड़ और तंग सड़कों की परेशानी से बचाने के लिए।"

"O. K." बिना किसी चेतावनी के केतकी पिछले विषय पर लौट आई, "पहले मैं विदेशियों से दूर ही रहती थी। बस, काम से काम। उनका रंग-रूप कभी आकर्षक लगा कि नहीं, कह नहीं सकती, पर उनके हाव-भाव, उनकी वेश-भूषा, उनके तौर-तरीके मुझे इतने पराए लगते थे कि उनको अपनाने की कल्पना भी कभी मन में नहीं जागी।"

"फिर यह विवाह कैसे हो गया ?"

केतकी ने उसे देखा, "यह प्रश्न है या आपत्ति ?"

"आपत्ति क्यों ?" विनीत के मुख से अनायास ही निकल गया, "मैं

आपत्ति करने वाला होता ही कौन हूं ?"

"पता नहीं, तुमने यह अधिकार कैसे छोड़ दिया," केतकी के चेहरे पर अनेक मिश्रित भाव उभरे, "नहीं तो प्रत्येक भारतीय पुरुष कुछ इसी मुद्रा में पूछता है कि 'भारतीय कन्या होकर किसी विदेशी पुरुष से विवाह करने का तुम्हें क्या अधिकार था ?' या बिना कुछ पूछे ही वह मुझसे कुछ इस भंगिमा में नाराज़ हो जाता है, जैसे एक विदेशी से विवाह कर मैंने सारे राष्ट्र का और साथ ही उसका भी अपमान कर दिया है। या फिर उसकी जिज्ञासा कुछ ऐसी होती है, जैसे पूछ रहा हो—'भारत में तुम्हें कोई पुरुष नहीं मिला ? क्या मैं तुम्हें दिखाई नहीं पड़ा था ?' "

विनीत के मन में शंका जागी : केतकी का अंतिम वाक्य उसी के लिए तो नहीं था ? उसे लगा, उसने सायास चुप नहीं कराया तो विनीत-शत्रु निश्चय ही सशब्द कह देगा, 'मैंने तो स्वयं अपनी इच्छा से यह पूछने का अधिकार उस दिन त्याग दिया था, जिस दिन मैंने दिल्ली से तुम्हें लिखे गए अपने एक पत्र में अपने एक 'नए-नए प्रेम' की चर्चा की थी।'

"नहीं ! मेरी प्रतिक्रिया इनमें से कोई नहीं है।" वह धीरे से बोला।

"तुम भले आदमी हो।" केतकी हंसी।

"मेरा प्रश्न ?" विनीत ने याद दिलाया।

"तुम्हारा घर अब कितनी दूर है ?"

"बस, पहुंचने ही वाले हैं।" विनीत बोला, "यह वज़ीरपुर डिपो है। यहां से दो किलोमीटर और।"

"तो घर पहुंचकर ही बताऊंगी।" केतकी ज़रा विश्राम की-सी मुद्रा में बैठ गई, जैसे गाड़ी की सीट पर नहीं, घर में सोफे पर बैठी हो। सिर को झटककर जैसे बालों को बिखेरा और चेहरे पर हाथ फेरा, "थक गई हूं। ज़रा हाथ-मुंह धोकर आराम से बैठूंगी तो किस्सा सुनाऊंगी—अपने विवाह का।"

"अपने विवाह का या अपने प्रेम का ?" पीछे से आते हुए ट्रक को मार्ग देते हुए विनीत ने कहा।

"विवाह का।" केतकी बहुत स्पष्ट शब्दों में बोली, "उस सारे प्रकरण को मैं आज तक प्रेम की संज्ञा नहीं दे पाई।"

विनीत ने कौतुकभरी दृष्टि उस पर डाली : परदेस में एक अमरीकी ईसाई से स्वेच्छा से विवाह ! और वह भी बिना प्रेम के ?

उसने गाड़ी अपने मकान के रैंप पर मोड़ दी।

केतकी के व्यवहार में रत्ती-भर भी औपचारिकता या परायापन नहीं था। उसने एक बार घूमकर सारा घर देखा और बोली, "बहुत सुंदर मकान है। मुझे तुमसे इतनी अपेक्षा नहीं थी।"

"सामान्य से थोड़ा भिन्न है। और क्या !" विनीत लापरवाही से बोला, "और तुम्हें मुझसे इतनी अपेक्षा नहीं थी—यह सुनकर मुझे खुशी हुई।"

"क्यों ? नाराज़ क्यों नहीं होते कि मैंने तुम्हें underestimate किया ?" केतकी ने अपने पैर सोफे पर ही समेट लिए, "I hope you do not mind."

"Not at all. आराम से बैठो।" विनीत हंसा, "उम्र ने ग़ालिब निकम्मा कर दिया।"

"Naughty. उम्र मत याद दिलाओ मुझे। नाराज़ क्यों नहीं हो ?"

"बात यह है केतकी !" विनीत गंभीर हो गया, "कि लोगों को मुझसे बहुत-बहुत अपेक्षाएं हैं। इतनी अधिक कि उन्हें पूरी नहीं कर पाता। माता-पिता, भाई-बहन, मित्र-संबंधी, पत्नी और बच्चे, पाठक-समालोचक, संपादक और प्रकाशक—किसी की भी अपेक्षाएं पूरी नहीं कर पाता। किसी का कोई काम है, किसी का कोई। किसी को मेरा समय चाहिए, किसी को रचना, किसी को मात्र मेरा ध्यान ही चाहिए—और मैं हूं कि उनकी अपेक्षाओं पर पूरा उतरने के तनाव में ही थक जाता हूं।"

"लेखक ! तुमने शब्दों पर विचार नहीं किया।" केतकी मुस्कराई, "तुम उनकी मांग पूरी नहीं कर पा रहे अर्थात् you are very much wanted a person—wanted but not by police. तुम उनकी अपेक्षाओं से बहुत ऊपर उठ गए लगते हो। ऊपर उठकर पति का अपने से दूर हो जाना पत्नी को अच्छा नहीं लगता।"

"शायद ठीक कहती हो।" विनीत कुछ सोचता हुआ बोला, "सार्वजनिक होता हुआ पति, पत्नी के लिए निजी संपत्ति नहीं रह जाता।"

"पत्नी को चाहिए कि उदार होकर अपनी मुट्ठी थोड़ी ढीली कर दे।" केतकी बोली, "नारी अपने अधिकार को पति या पुत्र पर सख्ती से आरोपित करेगी तो उनका विकास अवरुद्ध हो जाएगा।"

"तुम बहुत समझदार पत्नी हो।"

"पत्नी तो शायद उतनी समझदार नहीं हूं, पर समझदार सखी अवश्य हूं।"

केतकी ने दूसरी बार सखी शब्द का प्रयोग किया था—विनीत का ध्यान उस ओर गया—क्या कहना चाहती है केतकी !···सहसा ही उसके भीतर कहीं विनीत-शत्रु जाग उठा था : 'कुछ सोच-समझ भी रहे हो कि क्या कर रहे हो ! केतकी तुम्हारी बहुत पुरानी मित्र है। विदेश से आई है। आकर्षक युवती है। अकेली है। तुम हो, वह है; और घर में कोई नहीं है। कहीं वह जानबूझकर ही तो ऐसा व्यवहार नहीं कर रही ? तुम्हारे प्रति उसका पुराना आकर्षण ही तो नहीं जाग उठा ?···या कहीं तुम ही तो कोई क्रूर षड्यंत्र नहीं रच रहे ?···देखना। संभलकर। अब तुम बी० ए० के विद्यार्थी नहीं हो। अध्यापक हो, लेखक हो, गृहस्थ हो। कलंक की छोटी-सी चिंगारी तुम्हारे यश के लिए दावानल बन सकती है···'

"क्या हुआ ?" केतकी ने जैसे कुछ भांपा और फिर मुस्कराई, "मेरे informal व्यवहार पर कोई आपत्ति न हो तो मैं थोड़ा लेटना चाहूंगी। मुझे लगता है कि दिन चढ़े, अब मेरे लिए भारत का वसंत भी कुछ गर्म हो गया है।"

विनीत-शत्रु की आशंकाओं से भीतर ही भीतर उलझा हुआ विनीत वहां कुछ उपस्थित था भी और कुछ नहीं भी। बोला, "हां ! जाओ। अंदर पलंग पर लेट जाओ।"

"क्यों ? तुम नहीं आओगे ? थोड़ा आराम करेंगे, थोड़ी बातचीत करेंगे।" केतकी बोली।

विनीत ने विनीत-शत्रु को डांटा, "उसके मन में कोई पाप नहीं है,

तभी तो कितनी सहजता और स्वच्छता से वात कर रही है। और तुम हो कि अपने ही कलुप से जले जा रहे हो।"

"चलो।"

वे दोनों वेडरूम में आए।

"मेरे 'सखी' शब्द पर तो तुम्हें कोई आपत्ति नहीं है?" केतकी पलंग पर अधलेटी-सी हो गई, "महाभारत में द्रौपदी को कृष्ण की सखी कहा गया है!"

केतकी के व्यवहार में कहीं संकोच और औपचारिकता का लेश भी नहीं था; किंतु विनीत अपना संकोच दूर नहीं कर पा रहा था···यह ठीक है कि अव केतकी विवाहित है। विनीत की भी अपनी पत्नी और वच्चे हैं। दोनों वय की रपटीली राहों को पार कर, कुछ समझदार भी हो गए हैं। जीवन के प्रलोभनों को त्यागना और जोखिमों को टालना भी सीख गए हैं···पर विनीत का मन वार-वार कहता है कि उसके भीतर का आदिम पुरुष और केतकी के भीतर की आदिम नारी—अव भी जीवित हैं। वह यह भी भूल नहीं सकता कि उन दोनों में कभी भरपूर आकर्षण भी था। आज भी वे एक-दूसरे को पसंद करते हैं।···घर में एकांत है··· शृंगार में आलंवन के अतिरिक्त उद्दीपन भी एक तत्त्व है। 'विनीत' और 'केतकी' कव 'व्यक्ति', और 'व्यक्ति' से 'पुरुष' और 'स्त्री' हो ज़ाएंगे···

'पर केतकी ने स्वयं को उसकी सखी कहा था। साधारण और आधुनिक अर्थ में नहीं—महाभारत के अर्थ में।'

उसने पलंग पर वैठने के लिए अपने मन के संकोच को, कुछ इस तरह परे धकेला, जैसे अपने लेटने के लिए, जगह वनाने के लिए वह वच्चों द्वारा पलंग पर विखेरी हुई पुस्तकों और खिलौनों को परे धकेला करता था।

"क्या सोचने लगे?" केतकी ने पूछा।

"महाभारत की सखी द्रौपदी के विपय में।"

केतकी उठकर वैठ गई, "द्रौपदी के विपय में या सखी के विपय में?"

"सच पूछो तो सखी के विपय में।" उसने कह ही दिया।

"मैंने जव पहली वार महाभारत में 'सखी' शब्द पढ़ा, तो चौंकी थी,"

केतकी जैसे अपने-आप से बातें कर रही थी। उसकी यह भंगिमा विनीत ने पहले कभी नहीं देखी थी। संभव है कि विदेश जाकर उसे इस प्रकार बोलने की आदत पड़ी हो, "जाने कैसे मन में समाया हुआ था कि स्त्री और पुरुष की मित्रता बड़ी आधुनिक-सी चीज है, और वह पश्चिम से आई है। भारत में तो सम-वयस्क स्त्री और पुरुष के संबंध भाई-बहन, पति-पत्नी या प्रेमी-प्रेमिका के ही हो सकते हैं•••।"

"मुझे भी कुछ ऐसा ही लगा था।" विनीत हंसा, "इसी चक्कर में मैंने कई बार उलट-पुलट कर मूल महाभारत को देखा कि संस्कृत में किस शब्द का प्रयोग है। पर वहां भी सखी शब्द ही मिला।"

"हां।" केतकी बोली, "मैंने इस पर बहुत सोचा कि 'सखी' शब्द क्यों आया?"

"किस निष्कर्ष पर पहुंचीं?"

"कुछ रिश्ते बहुत सूक्ष्म होते हैं।" केतकी बोली, "जैसे देवर और भाभी का रिश्ता। मैं मानती हूं कि यह श्रृंगार और वात्सल्य के बीच का संबंध है। बहुत पवित्र संबंध है, फिर भी उसमें 'नारी' और 'पुरुष' के आकर्षण पर रीझने का निषेध नहीं है।"

"तुम्हारा शोध प्रेम-अवधारणों पर है—Concepts of love" सहसा विनीत को लगा कि उसका संकोच वाष्प बनकर उड़ गया है और वह विचार की भूमिका पर सहज रूप से आदान-प्रदान करने की स्थिति में है, "इसलिए इन संबंधों की छानबीन दार्शनिक सूक्ष्मता से तुमने की होगी। मैंने वह तो नहीं किया, पर संबंधों को लेकर कुछ धारणाएं मेरे मन में भी हैं।"

"क्या हैं वे धारणाएं?" केतकी जैसे उत्सुक हो उठी।

"कोई मौलिक उद्भावना नहीं है।" विनीत मुस्कराया, "केवल अनुभव के माध्यम से सिद्धांतों तक पहुंचने की बात है।"

"क्या?"

'प्रकृति के नियम के अधीन लोहे और चुंबक के आकर्षण के ही समान नारी और पुरुष का भी आकर्षण हर संबंध, हर रिश्ते में है। मां और पुत्र•••।"

"फ्रायड का सिद्धांत।"

"हां ! कुछ-कुछ फ्रायड की-सी बात समझ लो।" वह बोला, "छोटे बच्चे को अपनी युवती मां अच्छी लगती है। वृद्धा मां की तुलना में युवती बहन और युवती भाभियां अच्छी लगती हैं...।"

"यही तो वह कहता है।"

"वह तो कहता है, पर मैं वही नहीं कहता।" विनीत हंसा, "मेरा मन कहता है कि आकर्षण के कण प्रकृति ने चारों ओर बिखेर दिए हैं। वे तो हैं ही। हमारा संबंध इस पर निर्भर करता है कि उनका संयोजन हम कैसे करते हैं। एक किशोरी और किशोर परस्पर आकृष्ट होते हैं। वे एक-दूसरे को पसंद करते हैं; एक-दूसरे को अच्छे लगते हैं। ऐसे में उनके आकर्षण के कणों के संयोजन से पहले उनमें यदि एक संकेत यह आ जाता कि उनका आकर्षण भाई-बहन का-सा आकर्षण है, तो वे आकर्षण-कण, एक विशिष्ट रूप में संयोजित होते हैं। वे एक-दूसरे के निकट आते जाते हैं। वे एक-दूसरे के सुख के लिए, प्रसन्नता के लिए अधिक से अधिक, त्याग करने के लिए दृढ़ संकल्प होते हैं। किंतु यदि उसी आरंभिक सोपान पर उनके आकर्षण-कणों का संयोजन स्त्री-पुरुष के प्रेम का आकार ग्रहण करने लगता है तो उनकी निकटता नारी-पुरुष सहयोग से सृजन की ओर बढ़ने लगती है।...मेरा अभिप्राय यह है कि लक्ष्य निर्धारित होने पर आकर्षण-कण उसी के अनुसार आकार ग्रहण कर लेते हैं; किंतु आकर्षण-कण होते अवश्य हैं। क्या फ्रायड भी यही कहता है ?"

"छोड़ो फ्रायड को।" केतकी बोली, "द्रौपदी के विषय में तुम क्या कह रहे थे ?"

विनीत कुछ क्षणों के लिए मौन रह गया, जैसे अपने मस्तिष्क के एक संयोजन को बिखराकर उसको दूसरा रूप दे रहा हो।

"मुंशी...मेरा तात्पर्य है कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, मुंशी प्रेमचंद नहीं—के उपन्यास 'कृष्णावतार' के अनुसार द्रुपद की कभी यह इच्छा रही थी कि द्रौपदी का विवाह कृष्ण से हो जाए, क्योंकि कृष्ण अपने समय के अद्भुत योद्धा थे। और द्रुपद अपनी पुत्री का विवाह ऐसे ही वीर पुरुष से करना चाहते थे जो गुरु द्रोण से उनके अपमान का प्रति-

शोध ले सके। कृष्ण इसके लिए तैयार नहीं थे। व्यक्ति के रूप में कृष्ण को द्रौपदी पसंद थी, द्रौपदी को कृष्ण पसंद थे; किंतु इन आकर्षण-कणों को कृष्ण ने स्त्री-पुरुष के प्रेम का आकार नहीं लेने दिया। अर्जुन की पत्नी होने के नाते वह उनकी भाभी बनी, सुभद्रा की सपत्नी होने के नाते वह उनकी बहन बनी। बहन, भाभी और मित्र होकर द्रौपदी कृष्ण की सखी ही कहला सकती थी। अर्थात् यौन-संबंध से सर्वथा शून्य नारी-पुरुष आकर्षण।"

"मैंने अभी तक यह उपन्यास पढ़ा नहीं।" केतकी बोली, "मुझे पढ़ लेना चाहिए।" वह हंसी, "तुम्हारी तुलना में जितनी अनपढ़ मैं बी० ए० में थी, उतनी ही अब हूं। तुमने भी एम० ए० में Literature न लेकर Philosophy ली होती तो अब भी मेरा मन तुम्हारे notes कापी करने के लिए मचल गया होता।"

विनीत को लगा कि कृष्ण और द्रौपदी के संबंध को स्पष्ट करते हुए कहीं वह अपने और केतकी के संबंध की ही तो व्याख्या नहीं कर रहा था। उनमें संबंधों की निकटता हो, खुलापन हो, आत्मीयता हो, ईमानदारी हो, एक-दूसरे के लिए त्याग की भावना हो, बस शरीर की वासना न हो...

उसने अपने मस्तक को झटका दिया, "तुम अपने पति और विवाह के विषय में बताने वाली थीं।"

"मेरा दार्शनिक, दर्शन की गुत्थियां सुलझाने को अधिक उत्सुक है और तुम्हारा लेखक घटनाओं को जानने को व्याकुल।" वह हंसी, "मुझे लग रहा है कि तुमसे बातचीत के प्रयत्न में मेरी भाषा का कुछ परिष्कार हो रहा है।" उसने रुककर घड़ी में समय देखा, "ऐसा करते हैं कि ज़रा लंच की तैयारी भी होती चले। साथ-साथ बातचीत यानी Conversation."

"मैं सब्ज़ियां यहीं ले आता हूं। काटती-छीलती रहना। जो सहायता कर सकूंगा, कर दूंगा।"

"यहां सब्ज़ियां काटने से बेडकवर गंदा हो जाएगा।"

"होगा तो हो जाए।"

"तुम्हारी पत्नी नाराज़ होगी।"

"नहीं होगी।" विनीत बोला, "होगी भी तो मुझसे होगी। तुम्हें कुछ नहीं कहेगी।"

विनीत ने पलंग पर एक अखबार बिछा दिया और फ्रिज में से सब्जियां निकाल लाया। दो-एक ट्रे और छुरी केतकी स्वयं ही रसोई से उठा लाई थी।

"क्या खाओगे?" उसने पूछा।

विनीत हंसा, "भारत की सब्जियां मैं तो रोज़ ही खाता रहता हूं। तुम बताओ, तुम क्या खाओगी?"

"इस समय रसोई मेरे हाथ में है।" केतकी बोली, "और स्त्री जब खाना पकाने लगती है तो उसके मन में कोई स्वार्थ नहीं होता। उस समय उसके मन में केवल मातृत्व होता है, खाना चाहे किसी के लिए भी बन रहा हो। यदि उसमें मातृत्व न हो, तो खाने में वह रस ही न रहे।"

"तो तुम्हारा भी मातृत्व जाग रहा है?"

"स्त्री मूलत: है ही मां।" वह बोली, "अपने लिए पकाऊंगी तो घास ही काटूंगी। तुम्हारे लिए पकाऊंगी तो अपनी पाक-कला अपने-आप सार्थक लगने लगेगी।"

"तो मटर-पनीर बना लो।" विनीत बोला, "पर पनीर तो होगा नहीं। ऐसा करो आलू-मटर बना लो, या फिर मैं बाज़ार से पनीर ले आता हूं।"

"दूध है घर में?" केतकी ने पूछा।

"दूध तो कुछ ज्यादा ही जमा हो गया है। बच्चे नहीं हैं न घर में।" विनीत बोला, "एक गिलास दूध पियोगी?"

"पागल हो तुम!" वह हंसी, "दूध का पनीर बनाऊंगी...तो मटर-पनीर और दाल तुम्हारी पसंद की।"

"कौन-सी?"

"अपनी पसंद भी नहीं जानते?"

"देखना चाहता हूं कि तुम मेरी पसंद कितनी जानती हो।"

"उड़द की धुली हुई सूखी दाल—खिली-खिली।"

विनीत का चेहरा उल्लास से खिल गया: केतकी को याद था।

दोनों ने मटर छीलने आरंभ किए।

"बताओ।" विनीत बोला।

केतकी ने इस बार कोई टाल-मटोल नहीं की, "मेरा कैनेडा जाना भी एक संयोग ही था। मेरे भीतर पढ़ाई की कोई ऐसी महत्त्वाकांक्षा नहीं थी, जिसके लिए मैं कैनेडा जाती; और न ही मैं नौकरी की खोज में वहां गई थी। इसीलिए कहती हूं कि वह भी एक संयोग ही था। सहसा मुझे लगा कि करने को मेरे पास कुछ नहीं है। यदि कैनेडा की स्कालरशिप मिल गई तो शायद कुछ करणीय कर लूंगी। तो मैं कैनेडा पहुंच गई। वहां पहुंचकर भारत से एक-एक कर मेरे सूत्र कटते चले गए। मेरे मंगेतर ने सगाई तोड़ दी कि यह लड़की बहुत पढ़ गई है और जाने कहां-कहां भटक रही है, किस-किससे मिल रही है।" उसने मटर के छिलके बटोरकर टोकरी में डाले, "मेरे माता-पिता उत्सुक थे कि वे कोई और लड़का खोजकर मेरे फेरे करवा दें। मैं अपने पिछले अनुभव को दुहराना नहीं चाहती थी। वे फिर वैसा ही कोई ऊट-पटांग लड़का पकड़कर मेरे पल्ले बांधना चाहेंगे, या मुझे उसके पल्ले से बांध देंगे…"

"क्यों? वे कोई अच्छा लड़का भी तो ढूंढ़ सकते थे।"

"उनके बस का नहीं था।" वह अत्यन्त सहज रूप से कह गई, "उनके न तो कोई संपर्क थे और न उद्यम करने का सामर्थ्य। ले-देकर अपने रिश्तेदारों से कहते तो कोई इंटर या बी० ए० पास कस्बाई लड़का मेरे लिए ढूंढ़ देते। उससे मेरी निभती नहीं; और अंत में या तो पिट-पिटाकर आत्महत्या करती या परित्यक्ता का लेबल अपने माथे पर चिपकाकर बूढ़े मां-बाप की छाती पर मूंग दलती।…और यह सब मुझे स्वीकार नहीं था।"

"तो तुम कनाडा चली गईं। वहां तुम बहुत अकेली और असुविधा में थीं। संभव है बीमार रही हो। डा० पैटर्सन ने तुमसे सहानुभूति दिखाई। संभव है, तुम्हारी सेवा की हो। तुम्हें पहले उन पर दया आई, फिर सहानुभूति हुई और अंत में प्रेम हो गया।"

"नहीं! लेखक महोदय, नहीं!" वह हंसी, "मेरे साथ ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। मुझे अपने घर से बुलावे पर बुलावे आ रहे थे, पर मैं भारत . र दयनीय स्थिति को प्राप्त होना नहीं चाहती थी। इस बढ़ते हुए

दबाव को न मैं झेल सकती थी, न उसके सामने झुकना चाहती थी। मैं जानती थी, लौटने का दबाव केवल विवाह के लिए था। मेरे बूढ़े माता-पिता अपने संस्कारों से परेशान थे—उनकी कुंवारी लड़की, परदेस में पराए लोगों में बैठी थी और कभी उसका कोई पग गलत भी उठ सकता था। उनको इस परेशानी से बचा सकती तो अपने-आपको उनके दबाव से भी बचा ले जाती; इसलिए मैंने डा० डेविड पैटर्सन से विवाह करने का निर्णय किया···"

"तुम्हें डा० पैटर्सन से प्रेम नहीं था ?"

"जो कुछ मैंने तुम्हें बताया, उसमें कहीं प्रेम का नाम आया ?"

"अब भी प्रेम नहीं करती हो ?"

"मैं उनकी निष्ठावान पत्नी हूं, बस।"

"वे तुमसे प्रेम करते थे ?"

"वे कहते हैं कि वे प्रेम करते थे और आज भी प्रेम करते हैं। पर मेरे Concepts of love में, मेरे प्रति उनका भाव, किसी भी प्रकार प्रेम नहीं है।" वह बहुत स्पष्ट शब्दों में बोली, "वे भारतीय संस्कृति और दर्शन के प्रोफेसर हैं। उन्हें अपनी पुस्तकों में भारत के साथ रहने की आदत पड़ गई थी। मैं उनके सामने जीता-जागता भारत थी। मेरे प्रति उनके मन में जिज्ञासा थी; मेरे निकट आने की इच्छा थी। भारत के प्रति अपने मोह को वे मेरे प्रति अपना मोह समझ रहे थे। मुझे उनके इस आरोपण में कोई आपत्ति नहीं थी।"

"पर बिना प्रेम के तुम उनके साथ रह कैसे सकती हो ?"

"क्यों ? हम एक समाज में रहते हैं और सब लोगों के साथ हमारा सामाजिक व्यवहार होता है। हम उन सबसे प्रेम तो नहीं करते। हम जब अपना दायित्व अच्छी तरह निभा लेते हैं, तो हम बिना प्रेम के भी अच्छे नागरिक हो सकते हैं। वे दायित्वपूर्ण पति हैं, मैं दायित्वपूर्ण पत्नी हूं। हमें एक-दूसरे से कोई शिकायत नहीं है। एक-दूसरे से अधिक अपेक्षाएं भी नहीं हैं। इसलिए हम अच्छे पति-पत्नी हैं।"

"तुम्हारा प्रेम-दर्शन तो मुझे कुछ ऐसा लगता है कि न अपेक्षाएं हों, न अधिकार मांगें, न मतभेद हों।"

स्नेह का उत्तर स्नेह से देता है । जैसे ही उसे अनुभव होता है कि दूसरा पक्ष उससे प्रेम नहीं करता, वैसे ही वह भी अपनी वृत्तियों को समेटकर एक ओर हो जाता है; और कहता है कि यदि तुमको मेरी आवश्यकता नहीं है, तो मैं भी तुम्हारे बिना अपना जीवन व्यतीत कर सकता हूं ।"

विनीत कुछ नहीं बोला । वह जैसे असमंजस में था या अपने भीतर ही कहीं डूब गया था ।

केतकी ने उसे देखा : क्या सोच रहा है वह ? क्या सिद्धांतों को, अपने जीवन की किसी घटना पर घटा रहा है ?···जिस विनीत को वह जानती थी, वह अपने हृदय को एक स्वच्छ रडार कहा करता था । समाज के सिद्धांत, नियम और निष्कर्ष उसके हृदय-रडार से टकराते थे और यदि अनुकूल ध्वनि नहीं पाते थे तो वह उन सिद्धांतों पर पुनर्विचारों की मांग करता था । उसका कहना था, 'हृदय न्याय की बात करता है, सिद्धांत की नहीं । सिद्धांत तो अपने स्वार्थों की सिद्धि के लक्ष्य से गढ़े जाते हैं । नियम किसी एक वर्ग के स्वार्थ के लिए बनाए जाते हैं···एक हृदय ही है जो बिना कोई तर्क दिए, अपने संकोचन-प्रसारण से न्याय को तय कर देता है··· हृदय विद्रोह करता है, तभी समाज में प्रचलित अन्याय का पता चलता है और समाज को बदलने की आवश्यकता पड़ती है···' विनीत के इसी हृदय ने उसे लेखक बना दिया था ।

"उठो लेखक !" केतकी ने उसे जगाया, "फ्रिज से दूध ले आओ । पनीर बनाने का कार्य भी कर डालें ।"

खाना खाकर वे मेज़ से उठे तो केतकी ने पूछा, "आराम करना चाहोगे ?"

"आराम ही कर रहे हैं ।" विनीत हंसा, "सोना आवश्यक नहीं है । और फिर इतने दिनों के बाद, जाने किस पुण्य के प्रताप से थोड़े-से समय के लिए तुम मिली हो, इस समय को भी सोकर बिता दूंगा, तो मुझ-सा अभागा कौन होगा !"

"बहुत बड़ा कंप्लीमेंट दे रहे हो ।" केतकी उल्लसित हो उठी,

"यह मेरा व्यवहार-दर्शन है।"

"तो प्रेम-दर्शन क्या लैला-मजनूं की कथा में है ?"

वह हंस पड़ी, "विना प्रेम के हमारी गृहस्थी वहुत सुविधापूर्ण ढंग से चल रही है···नहीं, शायद सुचारु रूप से चल रही है, कहना अधिक उपयुक्त होगा।"

"हां। व्यावहारिक गृहस्थी चलाने के लिए प्रेम की आवश्यकता ही कहां है।" विनीत वोला, "लैला और मजनूं का विवाह हो गया होता, तो मुझे पूरा विश्वास है, उनमें झगड़े होते, जूते चलते और उनका तलाक़ होता।"

"ऐसा क्यों समझते हो तुम ?"

"क्या तुम ऐसा नहीं समझतीं ?" विनीत ने मटर, ट्रे से पतीले में डाल लिए और छिलके अखवार पर इकट्ठे कर दिए, "यदि उनका विवाह हो जाता तो रोटी, कपड़ा और मकान की समस्या सामने होती। सामाजिक संवंध और दायित्व होते। वच्चों का जन्म, पालन-पोषण और पढ़ाई का प्रश्न उठता। मजनूं अपनी दीवानगी में इनका प्रवंध कर पाता ? नहीं करता तो पति-पत्नी में खटक जाती। मजनूं का प्रेम तो सूफियों का प्रेम है। वह तो अपने हृदय की सारी वृत्तियों के सामंजस्य का नाम है। आकर्षण-कणों का सामंजस्य। आकर्षण-कणों का आकार ग्रहण करना, प्रेम का स्वरूप निर्धारित करता है, किंतु उनका किसी एक विंदु पर एकाग्र हो जाना, प्रेम से आगे वढ़कर भक्ति का रूप धारण कर लेता है और ऐसा प्रेम केवल ईश्वर से ही हो सकता है। मनुष्य तो उस प्रेम को झेल ही नहीं पाएगा। पत्नी वैसा प्रेम पति से करे तो घर का कोई काम ही न करे; और पति वैसा प्रेम करे तो आजीविका की चिंता ही न करे। वह तो उम्र-भर की समाधि है और समाधि अपने-आप में ही आनन्दमयी होती है। उसको छोड़कर कोई क्यों उठना चाहेगा !"

"यह क्या मानवीय प्रेम का आदर्श है ?"

"तुम प्रेम किसको कहती हो दार्शनिक महोदया ?"

"मैं पूर्ण समर्पण को नहीं, आदान-प्रदान को मानवीय प्रेम मानती हूं। मनुष्य का प्रेम वहीं तक है, जहां तक वह लगाव का उत्तर लगाव से,

स्नेह का उत्तर स्नेह से देता है । जैसे ही उसे अनुभव होता है कि दूसरा पक्ष उससे प्रेम नहीं करता, वैसे ही वह भी अपनी वृत्तियों को समेटकर एक ओर हो जाता है; और कहता है कि यदि तुमको मेरी आवश्यकता नहीं है, तो मैं भी तुम्हारे बिना अपना जीवन व्यतीत कर सकता हूं ।"

विनीत कुछ नहीं बोला । वह जैसे असमंजस में था या अपने भीतर ही कहीं डूब गया था ।

केतकी ने उसे देखा : क्या सोच रहा है वह ? क्या सिद्धांतों को, अपने जीवन की किसी घटना पर घटा रहा है ?···जिस विनीत को वह जानती थी, वह अपने हृदय को एक स्वच्छ रडार कहा करता था । समाज के सिद्धांत, नियम और निष्कर्ष उसके हृदय-रडार से टकराते थे और यदि अनुकूल ध्वनि नहीं पाते थे तो वह उन सिद्धांतों पर पुनर्विचारों की मांग करता था । उसका कहना था, 'हृदय न्याय की बात करता है, सिद्धांत की नहीं । सिद्धांत तो अपने स्वार्थों की सिद्धि के लक्ष्य से गढ़े जाते हैं । नियम किसी एक वर्ग के स्वार्थ के लिए बनाए जाते हैं···एक हृदय ही है जो बिना कोई तर्क दिए, अपने संकोचन-प्रसारण से न्याय को तय कर देता है···हृदय विद्रोह करता है, तभी समाज में प्रचलित अन्याय का पता चलता है और समाज को बदलने की आवश्यकता पड़ती है···' विनीत के इसी हृदय ने उसे लेखक बना दिया था ।

"उठो लेखक !" केतकी ने उसे जगाया, "फ्रिज से दूध ले आओ । पनीर बनाने का कार्य भी कर डालें ।"

खाना खाकर वे मेज से उठे तो केतकी ने पूछा, "आराम करना चाहोगे ?"

"आराम ही कर रहे हैं ।" विनीत हंसा, "सोना आवश्यक नहीं है । और फिर इतने दिनों के बाद, जाने किस पुण्य के प्रताप से थोड़े-से समय के लिए तुम मिली हो, इस समय को भी सोकर बिता दूंगा, तो मुझ-सा अभागा कौन होगा !"

"इससे तो मुझे कोई गलतफहमी भी हो सकती है।"

"सच बोल रहा हूं। सच से कुछ थोड़ा-बहुत प्रकाश मिल सकता है, गलतफहमी नहीं हो सकती।"

"पिटे हुए आशिक के-से डायलाग मत बोलो।" केतकी बोली, "तब टाल गए थे, अब बताओ, वह तुम्हारी एम० ए० वाली प्रेमिका का क्या हुआ? उससे विवाह क्यों नहीं हुआ?"

विनीत का असमंजस उसकी आंखों में झलका।

"अपनी सखी को भी नहीं बता सकते?"

विनीत असमंजस को पी गया, "एक कप कॉफी पिलाओ तो किस्सा सुनाऊं।"

"अभी लो।" केतकी उठी, "अच्छा शीर्षक है—'कॉफी और किस्सा'।"

केतकी रसोई में चली गई और विनीत के भीतर कहीं 'विनीत-शत्रु' जाग उठा, "क्या ले बैठे! उसका दिल जीतने के लिए अपने घायल हृदय को नोचकर खून की बूंदें टपकाना चाहते हो? दिल तो क्या जीतोगे। वह चटखारे ले-लेकर छत्तीस जगह तुम्हारी प्रेम-कथा सुनाएगी।"

"बकवास मत करो।" विनीत ने उसे डांटा।

"बकवास नहीं कर रहा। सच बोल रहा हूं।" विनीत-शत्रु बोला, "उसने अपनी प्रेम-कथा सुनाई तुम्हें? कैसे कतरा गई—बिना प्रेम के विवाह, वह भी कनाडा में। कौन-सा सूत्र था उसका, जिसके टूट जाने से वह भारत नहीं लौटना चाहती थी। बताया उसने? या तुम पर ही डोरे डाल रही थी कि तुम्हारा विवाह हो गया तो वह भारत ही नहीं लौटना चाहती थी?···तुम्हें तो कोई एक वक्त खाना बनाकर खिला दे और दो-चार चिकनी-चुपड़ी बातें कर दे तो तुम्हारे पैर ज़मीन पर ठहरते नहीं। वह अपने शोध के लिए केस इकट्ठे कर रही है। तुम केस हो क्या?"

"कुतर्क मत करो।" विनीत ने उसे झिड़का, "वह सखी है मेरी। मुझसे झूठ नहीं बोलेगी। और उससे बात कर विचारों में कुछ स्पष्टता आएगी···"

केतकी दो कप कॉफी ले आई। एक कप उसने विनीत को पकड़ा दिया। स्वयं सामने दीवान पर बैठ गई, "बताओ अब।"

विनीत कुछ सोचता रहा।

"फिर किस सोच में पड़ गए ?" केतकी ने पूछा।

"सोच-सोचकर स्वयं हैरान हूं कि इतनी महत्त्वपूर्ण बातें—जिन पर तब जीवन-मरण का आधार लगता था, आज कैसे समय के धुंधलके में खो गई हैं। न घटनाओं का आरंभिक सूत्र हाथ आ रहा है और न उनका क्रमिक विकास ही खोज पा रहा हूं।···और मेरे भीतर का लेखक परेशान है कि इस स्थिति में कैसे मैं वे सारी घटनाएं सजीव रूप में तुम्हारे सामने प्रस्तुत करूंगा, जैसे तुम विनीत से उसकी असफल प्रीति-कथा न सुनकर एक उपन्यास पढ़ रही हो।"

"तो उस उपन्यास के समान ही सुना दो, जिसके कुछ पृष्ठ फट गए हों या कुछ अध्याय खो गए हों।"

"अच्छा ! वैसे ही सुनो···।"

1961 ई० की 12 या 13 जुलाई को मैं दिल्ली जंक्शन पर उतरा था। 21 वर्ष की वय। संसार से सर्वथा अनभिज्ञ। छोटे शहर का सीधा-सादा एक छात्र, जिसके लिए दिल्ली विश्वविद्यालय में पढ़ना एक स्वप्न था।···पर अब मैं दिल्ली आ गया था। आरंभ में दो-चार दिन मन बहुत उखड़ा-उखड़ा रहा। विश्वविद्यालय खुला नहीं था। होस्टल में कोई था नहीं। खाना खाने के लिए भी बाजार जाना पड़ता था। अकेलापन और उदासी। लगता था कि पालतू पक्षी को किसी विस्तृत मरुभूमि में पिंजरा खोलकर स्वतंत्र कर दिया गया हो। उन दिनों मन में यही आता था कि सामान उठाऊं और वापस जमशेदपुर भाग जाऊं।

16 जुलाई को विश्वविद्यालय खुला तो कुछ चहल-पहल हुई। नए साथी थे, नए अध्यापक। सारा वातावरण नया था, जो जमशेदपुर के वातावरण से सर्वथा भिन्न था। सबसे बड़ी बात यह थी कि जमशेदपुर में मैं सबसे परिचित था, सबसे एक सहज स्नेह और सम्मान मिलता था—

वह सब यहां सिरे से गायब था। वी० आई० पी० ट्रीटमेंट मिलना तो दूर, चारों ओर अपरिचय और भयंकर संशय था।

पहले दो-तीन दिन तो मैं इस कारण परेशान रहा कि कक्षा में मुझे पहली पंक्ति में बैठने का स्थान ही नहीं मिला। मैं पहली पंक्ति में ठीक अध्यापक की नाक के नीचे न बैठूं तो व्याख्यान मेरी समझ में ही नहीं आता था। पर यहां यह हो रहा था कि जब तक मैं पहुंचूं, वहां आगे की सारी सीटें घिर गई होती थीं। किसी डेस्क पर कोई फाइल पड़ी है, किसी पर कोई पुस्तक, किसी पर कोई कापी। और कक्षा में दो-तीन लड़कियां बैठी हैं। समझ में नहीं आया कि कौन-सा भूत आकर ये सारे डेस्क घेर लेता है।···आखिर जब रुका नहीं गया तो एक दिन मैंने एक फाइल को टटोला—किसकी फाइल है ? गीता ! कापी किसकी है ? गीता ! पुस्तक किसकी है ? गीता ! दूसरे बेंचों पर फाइल, पुस्तक, कापी—सब कुछ चंदा का। तीसरी पर मल्लिका।···

तो यह चमत्कार है। एक-एक लड़की, तीन-तीन, चार-चार सीटें घेर लेती है और बाद में आने वाली अपनी सहेलियों को बैठा लेती है और हम बहुत पहले आकर भी पीछे-पीछे मंडराते रहते हैं। जाने मुझे क्या सूझी कि मैंने चंदा की फाइल, पुस्तक और कापी समेटकर एक ही डेस्क पर रख दीं और आराम से पहली पंक्ति में, अध्यापक के ठीक सामने वाली सीट पर बैठ गया। सेंटर-कार्नर की सीट ही मेरे पसंद की सीट है, चाहे थियेटर की हो या क्लासरूम की।

थोड़ी देर में चंदा टहलती हुई आई तो मुझे वहां बैठे देखकर चौंकी। उसने मुझे गौर से देखा। मैंने भी उसे ध्यान से देखा, जैसे शत्रु-पक्ष को तौल रहे हों। वह बहुत ही गोरी, लंबी और छरहरी लड़की थी। वय में कक्षा की अन्य लड़कियों से एक-आध वर्ष बड़ी ही लग रही थी। या तो वह बड़ी थी ही, या फिर उसकी भंगिमा कुछ वैसी थी। कक्षा की अन्य लड़कियां सामान्यत: सलवार-कमीज़ पहनती थीं, पर चंदा ने साड़ी बांध रखी थी। उसने बड़े आत्मविश्वास से कुछ धमकाकर पूछा, "यहां क्यों बैठे हो ?"

"पढ़ने के लिए।" मैंने सहज रूप से कहा।

"पर मैंने यहां अपनी फाइल पहले रख दी थी।" वह बोली।

"तुम क्या तीन सीटों पर बैठोगी?" मुझमें कुछ आवेश जागा।

उसने मुझे ध्यान से देखा और ठंडे स्वर में बोली, "तुम पीछे की पंक्ति में क्यों नहीं बैठ जाते? अभी तो सारी सीटें खाली हैं।"

मेरा आवेश कुछ घुल गया, "पीछे बैठकर मुझे कुछ भी समझ में नहीं आता। वैसे यदि तुम्हें तीनों सीटें अनिवार्य रूप से चाहिए तो मैं पीछे चला जाता हूं।"

उसने मुझे एक क्षण के लिए बड़े ध्यान से देखा, जैसे परख रही हो कि क्या मैं सचमुच सीट खाली कर रहा हूं; और वैसे ही उसे मैं परखता रहा कि क्या वह सचमुच मुझसे सीट खाली करवा लेगी?...पर जब वह कुछ नहीं बोली तो मैंने अपनी फाइल उठा ली और जाने के लिए उठ खड़ा हुआ।

"बैठे रहो।" वह बोली, "पढ़ने वाले बच्चे लगते हो।"

उसके शब्द भी मुझे चुभे और भंगिमा भी खली: ऐसे उदारता दिखा रही थी, जैसे बहुत तुच्छ-सा दान कर रही हो। फिर, मुझे बच्चा कह रही थी।

पर उसका ध्यान मेरी ओर नहीं था। वह अपनी सहेली की ओर मुड़ी, "मल्लिका! तुम यहीं बैठो। कमलेश आज कहीं और बैठ जाएगी।"

मैंने मल्लिका को देखा: गोरा रंग और बड़ी-बड़ी आंखें। बाल कुछ-कुछ अखरोट के छिलके-के से रंग के। नाक कुछ गोलाई पर, पर आगे से कुछ झुकी हुई। कद सामान्य। न मोटों में, न दुबलों में। चेहरे पर सहज कोमलता, भोलापन और आत्मसंतुष्टि। उसने एक चोटी कर रखी थी। बालों ने पीछे जाते हुए दोनों कानों के ऊपरी दो-तिहाई भाग को ढंक रखा था। उसने सलवार-कमीज़ पहन रखी थी—जिसे सूट कहा जाता था। बहुत ही उल्लसित ढंग का हरा रंग था कपड़े का। पैरों में वैसी ही चप्पल थी।

...लगा, पहनने-ओढ़ने का अच्छा सलीका था लड़की को। पर उसने मेरी ओर देखा भी नहीं। सहज संकोच था या उसने मेरी ओर देखने की आवश्यकता ही नहीं समझी: वे लोग दिल्ली की रहने वाली, एक-दूसरे

से परिचित, दिल्ली विश्वविद्यालय की पुरानी छात्राएं थीं। उनकी जड़ें इस विश्वविद्यालय और इस नगर में जमी हुई थीं। उनमें परिचय और सुरक्षा का अभिमान था; और मैं कहीं से टपक पड़ा था—नया-नया, अपरिचित, ऐरा-गैरा। मुझ पर नज़र डालने की आवश्यकता ही क्या थी?

मैं बैठ गया। मेरे साथ वाले डेस्क पर चंदा बैठी थी और उसके साथ मल्लिका। अध्यापक आकर उपस्थिति आरंभ कर चुके थे, तो कमलेश भागती हुई आई, "मेरी सीट?"

उसके लिए जगह बनाने के लिए मल्लिका थोड़ा खिसकी, पर चंदा ने उसे वापस धकेल दिया, "आराम से बैठ।" और कमलेश से बोली, "आज उधर गीता के पास बैठ जा।"

"चंदा की बच्ची!" कमलेश ने दांत पीसे और एक जलती-सी दृष्टि मुझ पर भी डाली।

मैं अपनी मनपसंद सीट पर बैठ तो गया, किंतु मेरे मन की हलचल शांत नहीं हुई थी…मैं एक प्रकार से हठ करके ही इस डेस्क पर बैठा था। क्या मेरे इस हठ को चंदा ने सहज रूप से मेरा अधिकार मानकर स्वीकार कर लिया था या वह ऊपर से शांत रहकर भीतर ही भीतर कोई योजना बना रही थी?

"बड़ी धाकड़ लड़की थी।" केतकी बोली।

"कौन?"

"चंदा।"

"वह तो पूरी नेता थी एक बड़े ग्रुप की।" विनीत बोला, "उसकी योजनाओं का सम्मान उस ग्रुप की सारी लड़कियों को करना पड़ता था। हर चुनाव के समय चंदा का महत्त्व बढ़ जाता था, क्योंकि उसके कहने में बहुत सारी लड़कियां थीं।"

"अच्छा!" केतकी ने फिर सुनने की मुद्रा बनाई, "फिर क्या हुआ?"

विनीत हंसा।

"हंस क्यों रहे हो?" केतकी ने पूछा।

"थोड़ी देर पहले तुम्हारा दार्शनिक अवधारणाएं स्पष्ट करना चाहता था, अब तुम्हारी रुचि भी घटनाओं में हो गई ?"

"घटनाओं को जाने बिना, संबंधों को कैसे स्थिर करूंगी ।" वह बोली, "अब टाल-मटोल मत करो । उपन्यास को आगे बढ़ाओ ।"

हमारे कालेज में इंटर कालेज डिबेट थी । उन दिनों खेलों के बाद वाद-विवाद सबसे महत्त्वपूर्ण गतिविधि हुआ करती थी कालेजों में । वाद-विवाद होते भी बड़े नियमित ढंग से थे और बड़े समारोहपूर्वक । उस दिन भी बड़ी धूमधाम थी । रामजस कालेज से डिबेट की ट्राफी उठा ले जाना किसी भी कालेज के लिए गर्व की बात थी । संयोग से अपने कालेज की ओर से मैं और रवीन्द्र ही उसमें भाग ले रहे थे ।

तभी देखा : चंदा भी आई हुई थी । मन में जैसे तरंग उठी कि जाऊं—उससे मिलूं । हम साथ पढ़ते हैं । अभी उस दिन ही मैं उसकी घेरी हुई सीट पर बैठ गया था । वैसे भी मेरे परिचित लोग यहां कितने कम थे । मन में कैसा उल्लास-सा तो संचित हो रहा था ।···पर दूसरे ही क्षण, मन के एक कोने से चेतावनी आई, सावधान ! ऐसे लपक-लपककर मत मिला करो । अगली सोचेगी, सीट पर बैठने क्या दिया, पीछे ही पड़ गया···कवि ने दिल्ली के विषय में ही तो कहा है :

"कोई हाथ भी न मिलाएगा, जो गले मिलोगे तपाक से, यह अजीब मिजाज का शहर है, जरा दूर से मिला करो ।"

मैंने उसे अनदेखा कर दिया, पर उसने मुझे देख लिया और वह मेरे पास आ गई, "तुम भी बोल रहे हो ?"

"हां ।"

"मुझे तो बहुत डर लग रहा है ।" वह बोली, "मुझे तो जबर्दस्ती भेज दिया कालेज वालों ने ।"

"बनो मत !" मेरे कुछ भी कहने से पहले रवीन्द्र बोला, "अच्छा-खासा बोलती हो । मैंने सुना है तुमको बोलते हुए ।"

"हां ! विषय पहले से मालूम हो, तो तैयार करके अच्छा-खासा बोल

लेती हूं।" वह बोली, "इस प्रकार की आशु वाक्-प्रतियोगिताओं में मुझे परेशानी होती है। जाने क्या विषय मिले।..."

तभी मंच से विषय की घोषणा की गई : "जड़ खंडहर भी आवाज़ जवाबी देता है।"

तत्काल सारे प्रतियोगी इधर-उधर बिखर गए, ताकि एकांत में कुछ सोच सकें। प्रतियोगी कम थे। श्रोता भी कम ही थे। हॉल के बाहर, खुला टेनिस-कोर्ट था। उसके पीछे से कैंटीन और साइकिल-स्टैंड झांक रहा था। दूसरी ओर होस्टल था और उसके साथ फुटबाल का मैदान। उन दिनों रामजस कालेज में इतनी भीड़ नहीं थी। साइंस ब्लाक तो अभी पूरी तरह बना भी नहीं था। प्रतियोगियों को जगह ही कितनी चाहिए थी।

मैं शायद चौथा या पांचवां वक्ता था। पर इस विषय पर बोलने में मुझे कोई कठिनाई नहीं थी। प्रतिशोध की भावना पर बहुत कुछ पढ़ और सोच रखा था। साहित्य से कुछ सहायता ली, कुछ मनोविज्ञान से; और अंततः अध्यात्म में प्रवेश कर गया। पांच मिनट कब समाप्त हो गए, कुछ पता ही नहीं चला।

मंच से उतरकर मैं हॉल में एक ओर बैठ गया। रामजस कालेज का हॉल काफी बड़ा है। लोग कुल मिलाकर भी सौ से ऊपर नहीं होंगे। सारी सीटें खाली पड़ी थीं।

जब तक अगला वक्ता बोलने के लिए मंच पर पहुंचता, चंदा आकर मेरे साथ वाली सीट पर बैठ गई, "तुम्हारी जिह्वा पर तो सरस्वती वास करती है।"

मैंने मुड़कर उसकी ओर देखा : आज तक इन शब्दों में किसी ने मेरी प्रशंसा नहीं की थी।

"मुझे तो पता ही नहीं था कि तुम इतने अच्छे वक्ता हो। लगता है, ट्राफी रामजस कालेज के पास ही रहेगी।" वह फिर बोली।

मन हुआ कि उसे बताऊं कि जमशेदपुर में था तो कई बार इंटर-यूनिवर्सिटी डिबेट में पुरस्कार ले चुका हूं। पर फिर चुप ही रह गया : कहीं मुझे लबाड़िया ही न समझे।

"मैं नहीं बोलूंगी।" थोड़ी देर में उसने कहा।

"क्यों ?" मैंने पूछा।

"मुझे मालूम है, मुझे पुरस्कार नहीं मिलेगा। बेकार अपनी भद्द कराने का क्या लाभ !"

मैं चुप रहा। लंच पर हिंदू कालेज का एक वक्ता दहाड़-दहाड़कर बोल रहा था। किसी वक्ता के भाषण के बीच में बातचीत करना मुझे पसंद नहीं था। जब मैं बोल रहा होऊं और हॉल में कोई बातचीत करे तो मुझे अच्छा नहीं लगता···

चंदा मेरे साथ वाली सीट पर ही बैठी रही। अपना नाम पुकारा जाने पर भी वह मंच पर नहीं गई। उसकी सहेलियां उसे इशारे कर-करके हार गईं, पर वह अपनी जगह से नहीं उठी···

प्रतियोगिता की समाप्ति पर निर्णय की घोषणा की गई। न मुझे पुरस्कार मिला था और न रामजस को ट्राफी। हिंदू कालेज के उस दहाड़ने वाले वक्ता को प्रथम पुरस्कार दिया गया था और ट्राफी भी हिंदू कालेज ले गया था···

हम अपने स्थानों पर उठ खड़े हुए तो चंदा बोली, "विनीत ! पुरस्कार तुम्हीं को मिलना चाहिए था।"

"वाद-विवाद के निर्णय में मतभेद की बड़ी गुंजाइश होती है।" मैंने कहा, "कई निर्णायक तर्क पसंद करते हैं, कई वक्तृता का प्रवाह। यहां निर्णायकों ने चीखने-चिल्लाने और जोर से बोलने को पसंद किया। इसलिए मुझे पुरस्कार नहीं मिला।"

"कोई बात नहीं।" वह पूरे आत्मविश्वास के साथ बोली, "रुचि के मतभेद की बात नहीं है। जजेस ने पक्षपात किया है। तुम नए हो। तुम्हें यहां कोई जानता नहीं है। यह भोंपू यहां का बहुत प्रसिद्ध वक्ता माना जाता है, इसलिए पुरस्कार उसे ही दे दिया गया है।"

मैं क्या कहता ! ···मन तो मेरा भी यही कह रहा था। पर यह तो प्रत्येक वक्ता का मन कह रहा होगा···

हम हॉल के बाहर तक साथ-साथ आए। सब लोग कैंटीन की ओर जा रहे थे। वहां प्रतियोगियों को चाय पिलाई जाने वाली थी। पर चंदा रुक गई, "अच्छा ! मैं चलती हूं।"

"क्यों ? चाय नहीं पीयोगी ?"

"मैं तो वोली ही नहीं, इसलिए मुझे कोई प्रतियोगी भी नहीं मानेगा।" वह वोली, "और मैं तो चाय पीती भी नहीं हूं।"

"अच्छा !"

समझ नहीं पा रहा था कि क्या कहूं। इच्छा तो थी कि किसी प्रकार उसे रोक लूं...

पर वह गई नहीं। बोली, "सुना है, तुम कहानियां लिखते हो ?"

मैं जैसे सुख से नहा गया : दिल्ली में भी कोई तो मेरे लेखक को भी पहचानता है। बोला, "लिखता तो हूं।"

"छपती भी हैं ?"

"हां। अब तक दस-बारह कहानियां छपी हैं।"

"पढ़ने के लिए दोगे ?"

मेरे लेखक को जैसे अपनी सार्थकता मिल गई, "तुम ठहरो। मैं अभी ले आता हूं।"

"मैं मौरिस नगर के 35 नंबर के स्टाप पर तुम्हारी प्रतीक्षा करूंगी।"

"मेरे लौटने से पहले बस आ गई तो ?" मैं सकपकाया।

"वस छोड़ दूंगी।" वह बोली, "मैं तुम्हारी प्रतीक्षा करूंगी।"

मैं होस्टल की ओर भागा। दूर ही कितना था। सीढ़ियां चढ़कर ऊपर पहुंचा और कमरे का ताला खोला। अलमारी में से कहानियों की फाइल निकाली। कमरे का दरवाजा बंद कर ही रहा था कि साथ के कमरे वाला निकल आया, "सुनो।"

"मैं ज़रा जल्दी में हूं।" मैं भागा, कहीं ऐसा न हो कि बस आ जाए और चंदा चली जाए।

मैंने दूर से ही देखा कि चंदा शेड के नीचे ऐसी निश्चितता से वैठी थी, जैसे उसे वस पकड़नी ही न हो।

मैंने फाइल उसे पकड़ा दी।

"चीज़ों को वहुत संभालकर रखते हो।" वह मुस्कराई, "मैंने पहले ही कहा था कि पढ़ने-लिखने वाले वच्चे लगते हो।..."

अगले दिन यूनिवर्सिटी पहुंचने में मुझे देर हो गई। घंटी वज चुकी

थी और न केवल अध्यापक कमरे में आ चुके थे, बल्कि रजिस्टर खोलकर वे उपस्थिति के लिए रोल नंबर पुकार रहे थे।

मेरे सामने और कोई रास्ता नहीं था कि मैं चुपचाप पीछे के दरवाज़े से भीतर जाकर, सबसे पीछे वाले डेस्क पर बैठ जाऊं। पर मेरे लिए तो दूसरी या तीसरी पक्ति में बैठना ही असहनीय था, सबसे पीछे बैठकर मुझे एक शब्द भी समझ में नहीं आएगा और सारा समय मन में उथल-पुथल मची रहेगी। इस एक पीरियड में ही इतना खून जल जाएगा कि सप्ताह-भर मन बुझा-बुझा रहेगा।

मेरा मन पीछे के दरवाज़े से जाने का नहीं हुआ। जाने क्या सोचकर या बिना कुछ सोचे-समझे मैंने आगे के दरवाज़े से प्रवेश किया। हो सकता है कि मोह इतना ही हो कि मैं चंदा के पास से होकर गुज़रूंगा···

विनीत ने केतकी की ओर देखा, "मुझे मालूम नहीं कि तुम जानती हो या नहीं, पर उस उम्र में ये छोटी-छोटी खुशियां भी बहुत बड़ी उपलब्धियां होती हैं। लड़के बहुत पागल होते हैं···उस उम्र में।"

केतकी मुस्कराई, "लड़कियां उनसे भी ज़्यादा पागल होती हैं। जिस पर दिल आ जाए, उसकी चर्चा सुनकर भी उनके पेट में कुछ ऐसा आलोड़न होने लगता है कि मुख से हंसी के फव्वारे छूटने लगते हैं···खिड़···खिड़···खिड़···।"

"खैर! मन आने की बात और है।" विनीत ने उसे टोका, "अभी यह तय नहीं हुआ कि उस पर मेरा मन आ गया था।"

"कहानी की दिशा तो यही है कि एक-आध दिन में वह तुम्हारी कहानियों की फाइल लौटा देगी। तुम्हारे गले में बांहें डाल देगी और कहेगी, 'मैं तुम्हारे बिना नहीं रह सकती मेरे लेखक!' तब क्या करोगे तुम? उसे रिज़िस्ट कर सकोगे?"

"तब तो तुम्हें आगे कुछ सुनाने की आवश्यकता ही नहीं है।" विनीत बोला, "तुम अन्तर्यामी हो। जान गई हो कि आगे क्या है।"

केतकी हंसी, "नहीं! मैं नहीं जान पाई। क्योंकि मेरी सोची हुई

कहानी का भविष्य कुछ और होता। चंदा और विनीत परस्पर इतना अधिक मिलते कि पढ़ाई छूट जाती और दोनों एम० ए० की परीक्षा में फेल होकर घर से भाग जाते। गलत लोगों के हाथों में पड़ते। कष्ट सहते। आपस में लड़ते। आत्महत्या या हत्या करते…इत्यादि-इत्यादि। पर तुम्हारी यह कहानी नहीं है। तब तुम ऐसे लेखक भी नहीं बन पाते, आस्थावान और सार्थक! तब तुम अपनी कलम से विष उगलते और कटु संघर्षों के लेखक कहलाते।" वह मुस्कराई, "मैं अन्तर्यामी के साथ-साथ भविष्यवक्ता भी तो हूं न!"

"तुम्हारी इस सोची हुई कहानी में यदि झगड़े के बाद चंदा वापस अपने घर लौट जाए या किसी और प्रकार से विनीत को छोड़ दे तो विनीत देवदासीय निराशा में अपने-आप लेखक बन जाएगा। बना-बनाया लेखक।"

गौरांगी खिलखिलाकर हंस पड़ी, "फिल्मी कहानी मत बनाओ। अपनी कहानी सुनाओ।"

"सुनो।…"

मैं चंदा के डेस्क से अभी एक-आध कदम इधर ही था कि उसने कोने वाले डेस्क से अपनी फाइल उठाई और साथ वाले डेस्क पर बैठी मल्लिका को थोड़ा खिसकाकर एक पूरा डेस्क खाली कर दिया।

थे उसके चेहरे पर। जैसे वह प्रसन्न नहीं थी। पर क्या इसी बात से ? संभवतः चंदा द्वारा अपना डेस्क छोड़ उधर खिसक जाने से उसे असुविधा में बैठना पड़ रहा था।

"ईर्ष्या का मामला रहा होगा।" केतकी बोली।

"क्या कह सकता हूं।" विनीत बोला, "नारी मनोविज्ञान तो न शरत्चंद्र के पहले किसी को समझ में आया था, न उनके बाद में।"

"वे महान् लेखक ही इसीलिए बन पाए, क्योंकि उन्होंने नारी मनोविज्ञान को समझा।" केतकी बोली, "तुम लेखक हो। लेखक नारी मनोविज्ञान नहीं समझेगा तो लिखेगा क्या ?"

"नारी मनोविज्ञान के अतिरिक्त संसार में लिखने को कुछ नहीं है क्या ?" विनीत हंस पड़ा।

"आजकल के लेखकों को देखकर लगता तो नहीं।" केतकी भी हंसी।

"पुरुष लेखक, नारी के विषय में जो कुछ लिखता है, उसे मैं प्रायः उसका अपना मानसिक आरोपण ही मानता हूं।" विनीत बोला, "वह चाहता है कि नारी का व्यवहार वैसा हो, इसलिए वह वैसा चित्रित कर देता है।"

"तुम्हारा मतलब है कि पुरुष लेखक, नारी के विषय में कुछ भी नहीं जानता ?"

"नारी के विषय में तो जानता है।" विनीत बोला, "पर नारी के मन के विषय में कुछ नहीं जानता।"

"चलो न सही नारी-मन ! नारी-आचरण के विषय में तो जानता है।" केतकी ने बात आगे बढ़ाई, "तुम चंदा के आचरण की ही बात करो…।"

चंदा के व्यवहार में कुछ भी ऐसा नहीं था, जिससे लगता कि उसने कुछ भी असहज, असाधारण या कुछ विशेष किया है।

पहला पीरियड समाप्त होने पर उसने बहुत सहज रूप से मेरी कहानियों की फाइल निकालकर मुझे पकड़ा दी।

बोली, "कहानियां मैंने पढ़ ली हैं। बहुत अच्छी हैं। तुम आगे चलकर अच्छे लेखक बनोगे। तुम्हें आशीर्वाद देने का मन होता है।"

वह चंदा मुझे अपनी समवयस्क नहीं लगी। अपनी सहपाठी नहीं लगी। वह तो जैसे बहुत बड़ी हो आई थी—बहुत ऊंचाई से बोल रही थी।

"नारी होती ही बहुत ऊंची है।" केतकी बोली, "एक छोटी-सी बच्ची की आत्मा में भी कहीं एक मां छिपी होती है। वह अपने पुत्र को भी आशीर्वाद देती है, पति को भी, प्रेमी को भी और अपने पिता को भी। तुमने शायद ध्यान दिया हो, बंगाल में एक छोटी-सी बच्ची को भी एक बूढ़ा पुरुष 'मां' कहकर ही पुकारता है।"

"ठीक कह रही हो।" विनीत बोला, "किंतु मेरी तात्कालिक समस्या नारी की महिमा को खोजना नहीं था, मेरी समस्या थी—चंदा के व्यवहार को समझना। मेरे प्रति उसका भाव कैसा था···।"

"कैसा था?"

"उस क्षण मैं कुछ भी तय नहीं कर पा रहा था: न भाव को न संबंध को। पर जब मैं होस्टल में लौटा और अपने कमरे में अकेला हुआ तो अनेक प्रकार के रोमानी विचार मुझे घेरने लगे···।"

"रोमानी विचार क्यों कहते हो? प्रेम क्यों नहीं कहते?" केतकी बोली।

"उन दिनों तुम्हें अपनी कहानी सुनाता तो शायद प्रेम ही कहता।" विनीत ने उत्तर दिया, "किंतु आज उसे 'प्रेम' कहने की इच्छा नहीं है।"

"क्यों?"

"प्रेम के अपने अनुभव के कारण। अनुभव से आदमी समझदार हो जाता है।" विनीत मुस्कराया, "मैं स्वीकार करता हूं कि चंदा के प्रति एक आकर्षण मेरे मन में था अवश्य; किंतु जिसे मैं प्रेम का उल्लास या उसकी उत्फुल्लता कहता हूं—उसका मुझे तनिक भी अहसास नहीं हो रहा था।

चंदा से मिलने की उत्कटता मेरे भीतर टक्करें नहीं मार रही थी।...हां! मेरे भीतर एक ठहराव अवश्य आया था। मेरा अकेलेपन का अहसास, परायेपन की भावना कुछ कम अवश्य हो गई थी और सुरक्षा का भाव भी पहले से कुछ बढ़ा था। इसे तुम प्रेम कहोगी क्या?" विनीत ने केतकी की ओर देखा।

"नहीं! यह नारी-पुरुष का प्रेम नहीं है।" केतकी ने स्वीकार किया।

"इसी से मेरे मन में एक और उलझन ने जन्म लिया : चंदा मेरे निकट आ रही है। क्या है उसके मन में? यदि वह इसी प्रकार मेरी ओर बढ़ती रही और उसके आकर्षण ने प्रेम का रूप धारण कर लिया तो क्या मुझे यह स्वीकार होगा?" विनीत चुप हो गया, जैसे कुछ सोच रहा हो और फिर केतकी की ओर देखकर बोला, "तुम जानती हो, मेरे जीवन में अनेक ऐसे अवसर आए हैं, जब नारी के आकर्षण ने मुझे बुरी तरह त्रस्त किया था, मेरे भीतर वासना और कामना के अंधे अंधड़, समुद्रमंथन के समान टक्करें मारते रहे थे! मैं यह भी मानता हूं कि मैंने उन क्षणों में थोड़ी-सी भी दुर्बलता दिखाई होती तो मेरे कैरियर का ही नहीं, मेरी आत्मा का भी पतन हो जाता। पर उस समय कोई अज्ञात शक्ति मुझे उस लपलपाती वासना से बचाकर निकाल ले गई।"

"तुम इधर बहुत भक्त हो गए हो क्या?"

"भक्त तो नहीं हो पाया हूं।" विनीत बोला, "भक्ति के लिए जो तन्मयता और समर्पण चाहिए, वह मुझमें है नहीं। बहुत चाहने पर भी मेरी अनास्था मुझे नहीं छोड़ती। मन को कहीं थोड़ा-सा रमाता हूं तो तुरंत संशय के नाग सिर उठाने लगते हैं : 'तू जानता है कि वह है?' 'तूने उसे कभी देखा है क्या?' और तुरंत मेरी भक्ति की धज्जियां उड़ जाती हैं।"

"तुम्हें इसका अफसोस है क्या?"

"सच कहूं तो अफसोस ही है।..."

केतकी ज़ोर से हंसी, "वाह पंडितजी! तुम तो लांग वाली धोती बांधकर, चुटिया रखो। माथे पर तिलक लगाओ। भक्तशिरोमणि हो जाओगे।"

विनीत बहुत ठहरी हुई दृष्टि से उसे देखता रहा, "तुम शायद मेरा मज़ाक उड़ाने की कोशिश कर रही हो। पर मैं पूरी गंभीरता और होश-हवास में कह रहा हूं कि यह सब कर सकता तो मुझे प्रसन्नता होती। अनास्था और संशय से आज किसी का भला नहीं हो रहा···।"

केतकी ने उसे आश्चर्य से देखा : विनीत का यह कौन-सा रूप है ? वह तो अपनी तर्क-प्रखरता के लिए प्रसिद्ध था। आस्था की बात वह कब से करने लगा है ? विनीत के इस रूप से वह परिचित नहीं थी···वह अब भी शून्य में घूर रहा था, जैसे अपनी अधूरी बात पूरी करने के लिए शब्द खोज रहा हो।

"प्रेम एक चीज़ है।" अंततः वह बोला, "उसका स्वीकार दूसरी चीज़। प्रेम हो और व्यक्ति उसे स्वीकार न कर सके तो यह उसका अधूरा-पन है। और प्रेम हो ही नहीं और वह अपने स्वीकार का प्रचार करता फिरे— यह ठगी है।···मुझे भगवान् से प्रेम हो जाए, मैं उसकी पीड़ा का अनुभव करूं और फिर सार्वजनिक रूप से उस लगाव को स्वीकार कर सकूं तो जीवन का रोग ही न कट जाए।"

"Are you serious Vineet ?" केतकी विश्वास नहीं कर पा रही थी।

"Till the core." विनीत बोला, "मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं केतकी कि जीवन की सार्थकता उसकी एकाग्रता में है—बिखराव में नहीं। यह एकाग्रता ही प्रेम है। एकाग्रता चाहे कर्म के प्रति हो, चाहे स्त्री या पुरुष के प्रति हो, चाहे भगवान् के प्रति हो···जिसने एकाग्रता पा ली, वह समाधि पा गया। उसने अपना लक्ष्य पा लिया।"

"तुम्हारे विचार में स्त्री-पुरुष का प्रेम और भगवान् की भक्ति एक ही चीज़ है ?" केतकी को भी इस चर्चा में कुछ रस आने लगा था।

"है तो एक ही चीज़, पर बिखराव में नहीं, एकाग्रता में। बिखराव में वह मात्र सुख मांग है, वासना है। एकाग्रता में समर्पण है, प्रेम है।" विनीत जैसे कुछ सहज हुआ, "एक कहानी याद आ गई—लैला-मजनूं के संबंध में।"

"क्या ?"

"कहते हैं कि जब मजनूं का भेद खुल गया तो लैला के पक्ष के लोगों ने मजनूं को मार-पीटकर भगा दिया और लैला-मजनूं का मिलना बंद हो गया।" विनीत किस्सा सुनाने के मूड में आ गया, "मजनूं इधर-उधर मारा-मारा फिरता रहा। उसे लैला की एक झलक तक नहीं मिली। बाद में उसे सूचना मिली कि आजकल लैला रोज़ प्रातःकाल दान करने के लिए सर्वसाधारण के सामने उपस्थित होती है। दुनिया-भर के भिखमंगे और फ़कीर वहां जमा होते हैं। मजनूं के मन में लैला को देख पाने की भी इतनी प्रबल इच्छा थी कि वह भी फ़कीर का वेश बना, हाथ में भिक्षा-पात्र लेकर वहां जा पहुंचा और भीख मांगने वालों की पंक्ति में खड़ा हो गया। जब उसकी बारी आई तो वह अपना भिक्षा-पात्र लेकर लैला के सामने पहुंचा। पर न तो उसे पात्र का होश था, न भिक्षा का। वह तो लैला की एक झलक पा जाने के लिए व्याकुल था। उसकी व्याकुलता असाधारण थी। लैला ने उसे पहचान लिया। पहचानकर लैला ने उसे दान तो नहीं ही दिया; न उस पर प्रेम-दृष्टि डाली, न उसे अपने चेहरे की झलक दिखाई। उसने ज़ोर का एक डंडा भिक्षा-पात्र पर मारा और उसे गिरा दिया।

"मजनूं खिलखिलाकर हंसा और वहां से भाग गया।

"जब मजनूं अपने मित्रों के पास पहुंचा और उसने हंसते हुए यह सारी घटना सुनाई तो उसके मित्र बहुत नाराज़ हुए। बोले, कि लैला ने यह क्या किया? जब वह मजनूं को पहचान ही गई थी और समझ गई थी कि वह किसलिए आया है, तो उसे अपना चेहरा दिखाना चाहिए था, या डंडा मारना चाहिए था।

"मजनूं हंसा। बोला, 'उसने मेरा भिक्षा-पात्र गिराकर एक संदेश दिया है। संदेश यह है कि ज़ो तुझे चाहिए, वह इस भिक्षा-पात्र में समाएगा नहीं; और ज़ो इस भिक्षा-पात्र में समाएगा, वह तुझे चाहिए नहीं—तो फिर इस भिक्षा-पात्र को लिए-लिए क्यों घूम रहा है। इसे फेंक दे।"

"यही बात भक्ति की भी है। भक्त को चाहिए, भगवान। भगवान उसके तृष्णा-पात्र में समाएगा नहीं और तृष्णा-पात्र में जो कुछ समाएगा, वह उसे चाहिए नहीं। तो फिर वह तृष्णा-पात्र लिए-लिए क्यों घूमता है?

इसलिए भगवान भक्त की तृष्णा को कष्टों और वंचनाओं के डंडे मार-मारकर गिराता रहता है।"

केतकी की समझ में नहीं आया कि वह विनीत को क्या उत्तर दे। उसने इस रूप में कभी सोचा नहीं था। वह मनोविज्ञान से दर्शन की ओर बढ़ी थी। उसका दर्शनशास्त्र तर्क तक सीमित था। भक्ति-दर्शन उसने कभी पढ़ा नहीं था। उसे तो उसने आज तक इस संसार के मतलब की चीज़ ही नहीं माना था।

"बिखराव की बात मैं इसलिए कहता हूं," विनीत ने पुनः बात का सूत्र उठाया, जैसे उसके मन में फिर से कोई तरंग उठी हो, "कि नारी-पुरुष के आकर्षण में भी हमारा भिक्षा-पात्र साथ ही लगा रहता है। मुझे यदि अपनी प्रिया नहीं मिली तो मैं मान लेता हूं कि मैं वंचित हुआ हूं, इसलिए मुझे पूरा नैतिक अधिकार है कि मैं कहीं और प्रेम करूं और दूसरी प्रिया को पत्नी बना लूं। दूसरी प्रिया से भी विवाह नहीं होगा तो मैं तीसरी जगह प्रेम करूंगा···क्योंकि मैं अपनी तृष्णा का भिक्षा-पात्र छोड़ नहीं पा रहा हूं। मेरी तृष्णा को तो सशरीर अपनी प्रिया चाहिए। वैसे कहता उसे मैं प्रेम हूं, तृष्णा नहीं। यदि सचमुच मुझमें प्रेम का उदय हो जाता तो मेरी मांग समर्पण में बदल जाती। मेरा भिक्षा-पात्र मेरे हाथ से छूट जाता और मैं अपनी प्रिया को सशरीर पाए बिना भी, अपने प्रेम में मग्न हो, उसे समर्पित हो जाता। पर आज तक तो ऐसा हुआ नहीं···।"

"तो तुम मानते हो कि तुम प्रेम भी नहीं कर पाए?" केतकी उसे विचित्र नज़रों से देख रही थी, "जिसे तुम प्रेम कहते और मानते आए हो, वह प्रेम नहीं था?"

"तब तो उसे प्रेम ही मानता रहा," विनीत बोला, "सच्चे मन से प्रेम मानता रहा; पर आज लगता है कि मेरा भिक्षा-पात्र तो आज तक मेरे हाथ से नहीं छूटा। आज भी रूपवती स्त्री को देखते ही भिक्षा-पात्र वाला हाथ उठ जाता है। विवेक डांटता है। समाज डराता है। अन्तरात्मा झल्लाती है। भिक्षा-पात्र वाला उठा हुआ हाथ नीचे झुक जाता है, पर पात्र हाथ से छूटता नहीं।"

दोनों चुप हो गए, जैसे अब कुछ कहने को न रह गया हो। विनीत

सब कुछ कह चुका था; और केतकी के पास पूछने को प्रश्न ही नहीं बचा था।

वातावरण को सहज होने में कुछ समय लगा; केतकी मुस्कराई, "तुम कंफैशन के मूड में हो।"

"वैसे तो कंफैशन के लिए तुमसे श्रेष्ठतर पात्र कहां मिलेगा। पर बात वह नहीं है।"

"क्या बात है?"

"तुम्हारा दर्शनशास्त्र मेरी कथा को खा गया।"

"हां। दर्शनशास्त्र की निष्कर्षण-शक्ति, कथा के घटनात्मक रस की हत्यारिणी ही है।" केतकी को जैसे बात का खोया हुआ सूत्र मिल गया, "तुम किसी अज्ञात शक्ति की चर्चा कर रहे थे, जो तुम्हें वासना के चंगुल से बचा लिया करती थी।"

"मेरा मनोविज्ञान ही कुछ ऐसा है।" विनीत बोला, "मेरा भिक्षा-पात्र तो आज तक नहीं छूटा, पर किसी के देय का गबन भी मुझसे नहीं हुआ। जब कभी वासना जागी, मन में यह प्रश्न भी उठा कि मैं इस लड़की की ओर बढ़ तो रहा हूं, पर क्या इससे मैं विवाह कर लूंगा? और जैसे ही मन को उत्तर मिला कि नहीं, मैं यहां विवाह नहीं कर सकता; मन ने भी साफ कह दिया कि विवाह का संरक्षण दिए बिना, किसी स्त्री का आकर्षण प्राप्त करने का मेरा कोई अधिकार नहीं है।...यही बात चंदा के संदर्भ में थी। और मेरा मन प्रयत्न करने पर भी इस प्रकार की कोई रुचि हृदय के किसी कोने में खोज नहीं पा रहा था।"

"चलो! छोड़ो दर्शन और मनोविज्ञान को।" केतकी बोली, "तुम कथा को आगे बढ़ाओ।"

"हां।" विनीत बोला, "तुम्हारी रुचि तो मेरी घटनाओं में है; दर्शन तो तुम्हारे अपने पास ही बहुत है।"

मैं दोपहर को डिपार्टमेंट से होस्टल में अपने कमरे में लौटा।

होस्टल में लौटने पर दो आकर्षण मुख्य हुआ करते थे : खाना और

डाक । सुवह नाश्ते में खाए हुए दो टोस्ट और अंडा—जाने कहां खो जाते थे । दोपहर तक इतनी भूख लग जाती थी कि डायनिंग रूम तक जाना भी अखरने लगता था । कभी-कभी जब डायनिंग रूम में कोई मेज़ खाली नहीं होती थी या खाना परोसने में नौकर कुछ देर करते थे तो भूख के मारे सचमुच गुस्सा आने लगता था ।···पर डाक का आकर्पण भी कम नहीं होता था । डाक से ही तो इस शहर का परायापन कुछ कम होता था । वाहर की दुनिया से संपर्क बने रहते थे । खासकर जमशेदपुर के लोगों के पत्रों की प्रतीक्षा रहती थी···

"परिवार वालों के पत्रों की ?" केतकी ने पूछा ।

"परिवार वालों के पत्रों की भी कह लो," विनीत बोला, "मित्रों के पत्रों की भी । और उन दिनों तो सबसे ज़्यादा तुम्हारे पत्र की प्रतीक्षा होती थी ।"

"झूठे कहीं के !" केतकी सचमुच लजा गई ।

"सच कह रहा हूं ।" विनीत सहज रूप से वोलता गया, "सवसे ज़्यादा खुशी तभी होती थी जब या तो तुम्हारा पत्र आता था या किसी पत्रिका से पारिश्रमिक का चेक ।"

"अर्थ और काम ।" केतकी ने निष्कर्ष निकाला । पर उसकी तटस्थ मुद्रा अगले ही क्षण जैसे किसी खेद में वदल गई, "तुमने तब क्यों नहीं वताया मुझे ?"

"क्यों ? अवश्य लिखा होगा । मेरा कोई पत्र तुम्हारे पास अब भी सुरक्षित हो तो देखना : प्रेम-पत्र न भी रहे हों तो भी रूमानी पत्र तो लिखता ही था । तुम्हारा आकर्षण छूटा कहां था ! या शायद कहना चाहिए, छूटा कहां है ।"

"तुमने वढ़ने भी तो नहीं दिया ।" केतकी के स्वर में शिकायत थी ।

"उसका विकास नहीं हुआ ।" विनीत बोला, "It did not grow· पता नहीं कारण क्या था, किंतु यह सच है कि it stood still· वढ़ा नहीं । विकसित नहीं हुआ ।"

"तो डाक की क्या बात कह रहे थे तुम ?"

ऐसा था कि डाकिया सारे होस्टल की डाक वार्डन के घर में डाल जाया करता था। वार्डन उस डाक को चौकीदार के हाथों बंटवाया करते थे। चौकीदार आम तौर पर सुबह हमारे जाने के बाद, हमारे कमरों में डाक डाल जाया करता था। इसलिए दोपहर को जब हम खाना खाने के लिए होस्टल लौटते थे तो कमरे में जाकर डाक देखने की इच्छा भी बहुत बलवती होती थी।

उस दिन भी मैं खाना खाने के लिए होस्टल लौटा तो कमरे की ओर भागा। मेरे साथ हरिदेव था। उसे कुछ अधिक ही भूख लगी थी या फिर उसका कोई प्रेम-पत्र नहीं आया करता होगा। उसका बल डायनिंग रूम की ओर जाने पर ही था।

"फाइल रख आऊं।" मैंने कहा।

"डायनिंग रूम में तुम्हारी फाइल कोई छीन लेगा क्या ?"

"नहीं यार ! खराब हो जाएगी। सब्ज़ी-वब्ज़ी गिर गई तो ?" मैं स्वयं को रोक नहीं पाया, "और डाक भी तो देखनी है।"

"बड़ा तो तेरा प्रेम-पत्र आया होगा।"

"शायद तेरा आया हो।" मैंने कहा और कमरे की ओर बढ़ गया।

ताला खोलकर दरवाज़े के पट को धकेला तो उसके साथ ही कागज़ के सरकने का स्वर हुआ। यह स्वर उन दिनों बहुत मधुर लगा करता था। इसका अर्थ था कि डाक आई है।

कपाट पूरा खोलकर देखा : तीन-चार पत्र थे जिनमें एक लिफाफा भी था। लिफाफा कुछ अधिक भारी था। उस पर भेजने वाले का नाम-पता कुछ भी नहीं लिखा था। हस्त-लेख भी जाना-पहचाना नहीं था। सबसे पहले मैंने उसी को खोला। एक सादे कागज़ पर केवल दो शब्द लिखे हुए थे, 'शुभकामनाओं सहित' और कागज़ में लिपटी हुई एक राखी थी।

तुरंत याद आया कि अगले दिन रक्षा-बंधन का त्यौहार था। पर यह राखी बहन जी की तो नहीं थी। हस्त-लेख उनका नहीं था। फिर, उन्होंने

भेजी होती तो अपना नाम-पता लिखा होता। मेरे नाम पत्र लिखा होता। घर के समाचार लिखे होते।

तो यह राखी किसने भेजी थी? ऐसी कौन-सी अज्ञात बहन थी, जिसने राखी तो भेज दी और अपना नाम तक छिपा गई। इस प्रकार तो राखी पाने के सुख से अधिक, उसे भेजने वाली को खोजने की उलझन थी। बहन का स्नेह कोई ऐसी चीज़ तो नहीं, जिसे प्रकट करने में संकोच हो···

मैं अपनी उलझन में ऐसा खोया कि खाना भूलकर वहीं कुर्सी पर बैठ गया। इस ओर ध्यान तब गया, जब हरिदेव आकर द्वार पर खड़ा हो गया, "खाने की भूख मिट गई क्या? मिल गया प्रेम-पत्र? तेरा तो विनीत, मेस का सारा खर्च ही बच जाए। बस, एक प्रेम-पत्र रोज़ मिल जाना चाहिए।"

"प्रेम-पत्र नहीं है मूर्ख! यह है।" मैंने पत्र उसकी ओर बढ़ा दिया।

"ओह! राखी आई है।" उसने खीसें निपोर दीं, "I am sorry यार। बहन की याद आ गई होगी तुझे। पर खाना तो फिर भी खा ही ले यार। मुझे तो बहुत भूख लगी है।"

"चल।" मैंने कमरे को ताला लगाया और उसके साथ चल पड़ा।

"पर यह राखी है किसकी?" मैंने उससे पूछा।

उसने आश्चर्य से मेरी ओर देखा, "तुझे नहीं मालूम?"

"उस पर कहीं नाम-पता लिखा हो, तो मालूम हो।"

उसने अपनी उल्लुओं जैसी गोल आंखें घुमाईं, "रहस्यमयी अनजान बहन उर्फ एक राखी का रहस्य।"

मैं कुछ नहीं बोला। मन को समझाता रहा: क्या हो गया! राखी ही तो आई है; कोई हत्या की धमकी तो नहीं आई। भेजने वाली नहीं बताना चाहती तो न सही। मन आएगा तो कल बांध लूंगा या एक ओर डाल दूंगा।···अच्छा ही है कि उसने नाम-पता नहीं लिखा, नहीं तो उसे इस कड़की में भी कुछ रुपये-पैसे भेजने पड़ते···

पर इस रहस्य को झटक देना इतना आसान नहीं था। मन में बार-बार विचार कौंधता···कौन हो सकती है? बहन का स्नेह देने को आतुर लड़की···पर वह इतनी रहस्यमयी क्यों है? इसमें छिपाने की बात ही

क्या थी ?···

हरिदेव से चर्चा कर दी थी, पर और किसी से चर्चा करने की इच्छा नहीं हुई। कोई लाभ नहीं था। जो सुनेगा, समस्या का समाधान तो क्या करेगा, मज़ाक ही उड़ाएगा।

अगले दिन कक्षा में पहुंचा तो चंदा ने मुझे बड़ी निरीक्षक दृष्टि से देखा, जैसे मेरे चेहरे पर से कुछ पढ़ने की कोशिश कर रही हो।

"क्या देख रही हो ?" मैंने पूछा।

"तुम्हें एक खादी की राखी मिली ?"

जैसे मेरे मस्तिष्क के बिखरे तार मिल गए : मेरी दृष्टि चंदा की वेशभूषा पर ठहरी—खादी का ब्लाउज़ और खादी की साड़ी···

मुझे पहले ही समझ जाना चाहिए था।

"तो वह तुमने भेजी थी ?"

"और तुमने समझा कि डाक-विभाग तुम पर कृपा कर डाल गया है।"

"पर तुमने अपना नाम क्यों नहीं लिखा ?···और फिर रोज़ तो हम मिलते ही हैं। उसे डाक से भेजने की क्या आवश्यकता थी ?"

"तुमने राखी बांधी क्यों नहीं ?" उसने मुझे देखा, "मेरी राखी स्वीकार नहीं है ?"

उसके तेज के सामने मैं कुछ अचकचा गया। पर संभलकर बोला," तुम ने अपना नाम लिखा होता तो सौ बार बांधता, पर बिना जाने-बूझे···"

"जानना क्या ज़रूरी है ?" वह बोली, "बहन का स्नेह ऐसी चीज़ तो नहीं, जिसको इस प्रकार सोच-विचारकर ग्रहण किया जाए।"

अब तक मेरी घबराहट दूर हो चुकी थी और मैं अपनी भूमि पर जमकर बात कर सकने की स्थिति में था। बोला, ' बहन का स्नेह स्वीकार करने में क्या आनाकानी। पर इसमें केवल ग्रहण ही तो नहीं है। उसके साथ दायित्व भी तो हैं। बिना जाने-बूझे कैसे स्वीकार कर लूं ! जाने किसी ने मज़ाक ही किया हो या कोई और बात हो···।"

"समझदार बच्चे हो।" वह मुस्कराई, "यह लो।" उसने अपनी पुस्तकों में से मिठाई का एक डिब्बा निकाला।

मुझे जैसे फिर से संकोच ने जकड़ लिया।

"अच्छे बच्चों की तरह पकड़ लो।" उसका स्वर जैसे द्रवित हो गया था, "मैं तुम्हारी बड़ी बहन हूं। आज से मेरा कहना मानना…।"

मैंने डिब्बा लेकर अपनी फाइल में एक तरह से छिपा लिया। उस समय भी मेरे मन में बार-बार यह बात उठ रही थी कि मैं चाहे इस संबंध को कितनी भी गंभीरता से ग्रहण करूं, मेरे लिए यह संबंध कितना भी पवित्र क्यों न हो, दूसरों के लिए वह परिहास का विषय भी हो सकता है। मेरे परिचय के अनेक लड़के ऐसे थे, जो भाई-बहन के ऐसे संबंधों को आड़ ही मानते थे और उनके मूल में नारी-पुरुष आकर्षण ही होता था…

"क्या तुम इसे सही नहीं मानते ?" केतकी अपने दाएं हाथ से बायां कंधा दबा रही थी।

"क्या हुआ ?" विनीत ने उसके प्रश्न का उत्तर न देते हुए पूछा।

"कुछ नहीं। शायद स्पानडेलाइटस के कारण है। थोड़ा-बहुत दर्द रहता ही है।"

"तो इलाज क्यों नहीं करातीं ?"

केतकी हंसी, "कैलेंडर पर दृष्टि डालो। सन् कौन-सा चल रहा है ?"

"क्यों ? 1984 चल रहा है। तो उससे क्या ?"

"उससे मेरी उम्र का हिसाब लगाओ।" केतकी बोली, "अब इस उम्र में हार्ट ट्रबल, ब्लड प्रेशर, डायबिटीज़, स्पानडेलाइटस एटसेटेरा-एटसेटेरा में से कुछ तो होना ही है। तुम्हें कुछ नहीं है क्या ?"

विनीत जोर से हंसा, "हम उस उम्र में मिले थे जिसमें स्त्री-पुरुष का आकर्षण सुंदर आंखें, सुंदर रंग, भरा यौवन इत्यादि-इत्यादि की बात होती थी। अब उस उम्र में मिल रहे हैं जब ब्लड प्रेशर और हार्ट ट्रबल की बात होती है।"

केतकी भी हंसी, "और बीस वर्ष के बाद मिलो तो प्रशंसा में प्रेमी अपनी प्रेमिका से यही तो कहेगा, 'तुम्हारे दांत तो बहुत सुंदर हैं। किस डाक्टर से बनवाए हैं ?' 'ऐनक का फ्रेम बड़ा सुंदर है। कितने का लिया है ?' आंखों का सौन्दर्य तो वह गरीब देख ही नहीं पाएगा।"

"ठीक कह रही हो।"

"ओह-हो ! बीच में यह बुढ़ापा-पुराण कहां से आ गया ?" केतकी बोली, "तुम हमेशा अपने विषय से भटक जाते हो। अपनी क्लास में भी यही करते हो ?"

"बहकने का रोग मुझे है, भटकने का नहीं।" विनीत बोला, "भटकाती तो तुम हो, बीच में ऐसे-ऐसे प्रश्न पूछकर। और तब भी तुमने ही अपना कंधा दबाया था। यह भी न पूछता कि तुम्हें कोई तकलीफ तो नहीं है ?"

"पूछ लिया न ! अब आगे चलो।" केतकी बोली, "तुम कह रहे थे कि भाई-बहन के ऐसे संबंधों में भी कुछ लोग नारी-पुरुष का आकर्षण मानते हैं। मुझे लगता है कि इसमें सच्चाई तो है, चाहे कम मात्रा में ही हो।"

"सच्चाई तो है ही।" विनीत बोला, "पर मैं जितनी बात कर रहा हूं, वे ऐसे लोग हैं, जो जानते हैं कि उनका आकर्षण नारी शरीर के ही प्रति है। वे भोग की ओर अग्रसर हैं। इस प्रकार के संबंध के प्रति उनके मन में कोई संशय नहीं है। किंतु सामाजिक विरोध से स्वयं को बचाए रखने के लिए अपने व्यभिचार को वे बहन-भाई के संबंध की ओट दे देते हैं।..."

"मैं उनकी बात नहीं कर रही।" केतकी बोली, "मैं यह कह रही हूं कि जिस प्रकार कोई एक स्त्री या पुरुष संसार की इतनी जनसंख्या में से किसी एक को अपने प्रेम के पात्र के रूप में चुनता है, तो उसके पीछे एक विशिष्ट आकर्षण होता है, ठीक वैसे ही जब कोई स्त्री किसी पुरुष को अपना भाई मानने की ओर अग्रसर होती है, तो उसके मन में भी कोई आकर्षण होता है..."

"बिजली की धारा तो एक ही है, किंतु बल्ब में हो तो प्रकाश देती है, पंखे में हो तो हवा देती है..."

"यही कह रही हूं मैं भी।"

"यही कह रही हो तो मैं सहमत हूं तुमसे।" विनीत बोला, "पर मैं यह नीति आज तक स्वीकार नहीं कर सका कि प्रेमिका से विवाह नहीं हो सका तो उसे बहन बना लिया जाए। प्रेमिका तो प्रेमिका ही रहेगी।"

"कोई घाव बोल रहा है क्या ?" केतकी ने चुहल की।

"प्रत्येक घाव में जुवान तो होती ही है।" विनीत बोला, "जिस लड़की या स्त्री के प्रति मेरे मन में वहन के संबंध की मर्यादा न जागे, उसे मैं किसी भी सुविधा के लिए वहन नहीं कहूंगा।"

"यह तो व्यक्तिगत चरित्र की बात है। तुम झूठ नहीं बोलोगे तो संबंधों के झूठ को भी स्वीकार नहीं करोगे; न किसी झूठे संबंध को निभाओगे।" केतकी बोली, "हां तो फिर ? तुमने मिठाई का डिब्बा फाइल में छिपा-सा लिया···।"

मेरे मन में चंदा का पहले दिन से अब तक का व्यवहार कौंध गया। वह पहले दिन से मेरे प्रति बहुत उदार रही थी। मेरी आवश्यकताओं का उसे ध्यान रहा था।···सचमुच उसकी बात में बल था। वह मेरे लिए बड़ी वहन सिद्ध हुई थी। उसका बल 'बहन' पर जितना था, 'बड़ी' पर उससे कम नहीं था।

पर तभी मेरी दृष्टि चंदा के साथ लगकर खड़ी मल्लिका पर पड़ी।

देखता तो उसे मैं रोज़ ही था, पर आज का उसका चेहरा कह रहा था कि अब तक जिस चेहरे को मैंने देखा था, उस पर जैसे संशय के जाले थे। आज वह निथरकर साफ-सुथरा हो गया था। उस दिन की उसकी आंखें देखकर मेरी समझ में आया कि कवि लोग आंखों को झील क्यों कहते हैं। मुझे आश्चर्य हुआ कि आज तक मैंने क्यों नहीं देखा कि उसकी आंखें इतनी बड़ी-बड़ी हैं। उसका गोरा वर्ण तो मैंने पहले भी देखा था, किंतु इतना मृदुल और पारदर्शी !

वह मुस्कराई, "तुम्हारी बहन की मिठाई में मेरा कोई हिस्सा नहीं है ?"

"मैं तुम्हें क्या बताऊं केतकी !" विनीत की आंखों में न जाने क्या-क्या तो झलका, "कि उस समय मुझे क्या हो गया।"

"क्या हो गया ?"

"मैं कभी-कभी बहुत भावुक हो जाता हूं।..."

"वेसिकली तुम हो ही भावुक।" केतकी ने टोका।

"वह तो हूं ही।" विनीत ने स्वीकार किया, "पर जब भी मेरी भावुकता उभरती है, मेरा विवेक त्रिभंगी मुद्रा में खड़ा होकर तिरछी नज़रों से मुझे देखता रहता है और बड़ी वक्र भंगिमा में मुस्कराता है। तब मेरी भावुकता भी सजग रहती है कि कुछ ऐसा न कर गुजरूं कि कोई भी मुझ पर मुस्कराने का दुस्साहस कर सके, चाहे मुस्कराने वाला मेरा अपना ही विवेक क्यों न हो...पर कभी-कभी होता यह है कि मेरा अपना वह त्रिभंगी, वक्र मुस्कान वाला विवेक भी पिघल जाता है। बस, इच्छा होती है कि अब तो जल की धारा के समान जिधर राह मिले, उधर ही वह जाऊं।... मल्लिका के उस एक वाक्य ने ऐसी आत्मीयता जगा दी मन में...लगा, हम दो हैं ही नहीं। हमारा ऐसा तादात्म्य हुआ है कि हम पृथक् हैं ही नहीं। जो कुछ मेरा है, वह सब उसका भी है—उसका भी है शायद गलत है—उसका उतना ही है, जितना मेरा है; या शायद उसका अधिक है, मेरा कम है। वही है, मैं नहीं, मैं नहीं...। मेरे मन में एक दृश्य जागा : सुदामा ने कृष्ण को पोटली पकड़ाई है और रुक्मिणी ने कृष्ण का हाथ थाम लिया है...'मेरा भाग...'"

केतकी ने आश्चर्य से उसकी ओर देखा, "तुम तो भक्ति की ओर जा रहे हो।"

"पुरुष की आसक्ति ससीम नारी में घर कर जाए, तो वह प्रेम है। असीम शक्ति में समा जाए तो भक्ति है। आसक्ति तो वही है।"

"तुम मध्यकालीन भक्तों की वाणी बोलने लगे हो।" केतकी बोली, "तुम्हें कोई modern concept देना चाहिए।"

विनीत ने उसे देखा, "मैं समझा नहीं।"

"नारी सीमाबद्ध है, प्रकृति सीमारहित।" केतकी बोली, "पुरुष की आसक्ति नारी से लिपट जाए तो वह असीम शक्ति से दूर हो जाता है। इस प्रकार तो पुरुष के लिए नारी मुक्ति-मार्ग की बाधा हुई। वह उसे ईश्वर से दूर करती है। ईश्वर से विरोधी दिशा में खींचती है।"

विनीत भौंचक-सा उसे देखता रहा, जैसे अपने ही किसी गलत तर्क में फंस गया हो। और फिर अचानक ही वह जोर से हंसा, "मुझे अपने तर्कों से सावधान रहना चाहिए; क्योंकि तुम्हारे तर्कों के चिमटे में फंसकर वे मुड़ जाते हैं और मुझे ही बांध लेते हैं।"

"चालाकी मत करना।" केतकी मुस्कराई, "यहां शास्त्रार्थ नहीं है कि अपने पक्ष की जय के लिए अपने तर्कों को आड़े-तिरछे करने लगो। लेखक को अपनी संवेदना से बोलना चाहिए, क्योंकि संसार को लेखक से सच नहीं मिला तो फिर किसी से भी नहीं मिल पाएगा।"

"दार्शनिक से भी नहीं ?"

"मुझे लगता है कि प्रत्येक दार्शनिक के भीतर एक लेखक होता है और एक संप्रदाय-संगठनकर्ता। उसकी वाणी में जितना लेखक बोलता है, उतना सत्य होता है; और जितना संप्रदाय-संगठनकर्ता बोलता है, उतना अपने पक्ष का जय-पराजय का सावधान विचार।"

"तुम लेखक का सत्य जानो, न जानो।" विनीत बोला, "पर दार्शनिक का सत्य पूरा-का-पूरा जानती हो।"

"इसीलिए तो लेखक का सत्य तुमसे पाना चाहती हूं।"

"मैं आम तौर पर झूठ नहीं बोलता।" विनीत बोला, "व्यक्ति के रूप में कभी बोल भी जाऊं, लेखक के रूप में सत्य ही बोलता हूं। और केतकी! तुमसे तो व्यक्ति के रूप में भी झूठ नहीं बोलता।"

"क्यों ?"

"सखी से भी कोई झूठ बोलता है ?"

"चलो ! लौटो अपने विषय पर वापस।" केतकी बोली।

"बहक गया या भटक गया ?"

"बहक गए।"

"बड़ी बुरी आदत है मेरी। पढ़ाते हुए क्लास में भी बहक जाता हूं और फिर लड़कों से पूछता हूं, 'हम क्या बात कर रहे थे ?'

" 'सर ! आप ससीम और असीम की आसक्ति की बात कर रहे थे।'

"हां।" विनीत ने अपनी बात का सूत्र पकड़ा, "मैं यह मानता हूं कि नारी के प्रति पुरुष की आसक्ति से बड़ी आसक्ति दूसरी नहीं है। उसकी

सारी वृत्तियों को केन्द्रित कर देने की क्षमता रखती है नारी। नारी में यह क्षमता है, कहना शायद थोड़ा भ्रामक है। पुरुष में यह क्षमता है कि वह नारी पर अपनी सारी वृत्तियां केन्द्रित कर सकता है…।"

"इसका क्या अर्थ हुआ ? तुम नारी का महत्त्व कम कर रहे हो।"

"नहीं। मैं पुरुष के भीतरी संसार का सत्य बता रहा हूं; क्योंकि यदि यह क्षमता नारी में होती तो कोई भी पुरुष चाहकर भी नारी की आसक्ति से मुक्त नहीं हो पाता। यह कुछ इस प्रकार है कि नारी का सौन्दर्य नारी के शरीर में न मानकर पुरुष के मन में माना जाए। वह अपने मन से बाध्य होकर नारी में आसक्त होता है। और नारी की ओर से उसकी आसक्ति को ठोकर लगे तो उसे दूसरी कोई आसक्ति बांध नहीं पाती, बस सीधा वैराग्य ही जागता है।"

"तो पुरुष की दृष्टि से नारी ईश्वर की विरोधिनी ही हुई न ! वह नारी को छोड़े तो ईश्वर को पाए।" केतकी के स्वर में विरोध था।

"विरोधिनी !" विनीत ज़ोर से हंसा, "अरे, वह ईश्वर की समकक्ष हुई। पुरुष को चुनाव करना है। उसे दोनों में से एक ही मिल सकता है—ईश्वर या नारी।"

"फिर तो नारी ही ईश्वर-विरोधिनी नहीं हुई, ईश्वर भी नारी-विरोधी हो गया।" केतकी बोली।

"वस्तुतः बात यह है केतकी !" विनीत गंभीर हो गया, "स्त्री-पुरुष या स्त्री और ईश्वर का विरोध भ्रमित चिंतन के कारण पैदा होता है। वस्तुतः प्रकृति ने जो चीज़ें विरोधी बनाई हैं, वे हैं : भौतिक सुख तथा आध्यात्मिक सुख। या कहो वैभव-विलास और आध्यात्मिक सुख-शांति। यह नारी और पुरुष दोनों के लिए है। नारी और पुरुष एक-दूसरे के माध्यम से भौतिक सुखों में डूबते हैं या एक-दूसरे के सहयोग से आध्यात्मिक सुख पाने का प्रयत्न करते हैं।"

"तुम भक्ति के दृष्टिकोण से बात करो।" केतकी ने उसे टोका।

"चलो। वही सही।" विनीत बोला, "भक्ति क्या है ? भक्ति की बहुत सारी परिभाषाएं हो सकती हैं। पर मैं अपनी सुविधा के लिए मान लेता हूं कि भक्ति के लिए मनुष्य की सारी वृत्तियों का सामंजस्य

आवश्यक है। वृत्तियां बिखरी रहें तो भक़्ति संभव नहीं है। ठीक है?"

"हां। ठीक है।" केतकी सहमत हो गई।

"अब देखो कि पुरुष की वृत्तियां कितनी सहजता से नारी के माध्यम से केन्द्रित हो जाती हैं। है न?"

"हां।"

"तो पुरुष के लिए भक्ति की प्रक्रिया का आरंभ ही नारी से होता है। वह उसे प्रत्यक्ष दिखाती है कि वृत्तियों का केन्द्रीकरण या सामंजस्य क्या होता है। नारी के प्रेम में ही पुरुष उस मन:स्थिति के सुख का अल्पांश पाता है, जो केन्द्र और मात्रा के भेद से भक्ति में बदल जाती है।"

"तो तुम्हारे तर्क से तो नारी का प्रेम भक्ति का ट्रेलर है।"

"ट्रेलर मत कहो।" विनीत बोला, "यह शब्द अपनी पवित्रता खो चुका है। मैं उसे झांकी कहता हूं।"

"चलो झांकी ही सही।" केतकी बोली, "पर झांकी यदि अटकाने वाली हो और पूर्ण दर्शन को रोकती हो तो?"

"हां। सही प्रश्न है।" विनीत बोला, "अब समझने का प्रयत्न करो कि झांकी से वास्तविक दर्शन तक की यात्रा कैसे तय होती है। या कहो कि प्रेम से भक्ति तक कैसे पहुंचते हैं।"

केतकी ने कुछ नहीं कहा, केवल देखती रही; जैसे कह रही हो, 'कहो।'

विनीत फिर बोला, "पर एक बात पहले स्पष्ट कर लें कि जितनी भी चर्चा हम कर रहे हैं, वह प्रेम की कर रहे हैं, भोग की नहीं। यद्यपि भोग भी किसी-न-किसी सोपान पर प्रेम में परिणत हो सकता है, पर हम उस झंझट में न पड़ें। अभी हम मानकर चल रहे हैं कि भोग स्वार्थवृत्ति है। उसमें एकनिष्ठा नहीं है। सत्य नहीं है उसमें। ग्रहण का ही मार्ग है। उसमें इंद्रियों का भोग है, मन या आत्मा का नहीं। प्रेम, शुद्ध ग्रहण के अर्थ में स्वार्थ नहीं है। उसमें एकनिष्ठा है। प्रेम किसी एक को स्वीकार करता है तो अन्य का तिरस्कार भी करता है। उसमें शरीर का आकर्षण भी होता है, पर उसमें मन और आत्मा का सत्य भी है।"

"भूमिका काफी लंबी हो गई।" केतकी बोली।

"हां। पर यह आवश्यक थी।" विनीत बोला, "तो नारी के प्रेम से पुरुष दो प्रकार से भक्ति तक पहुंचता है : एक है तुरंत मार्ग यानी झटका खाकर, जैसे तुलसीदास और घनानन्द पहुंचे। जिसमें आसक्त थे, जिस नारी के माध्यम से उनकी वृत्तियों ने सामंजस्य पाया था, उसी ने उनका तिरस्कार किया तो वे वृत्तियां बिखरीं नहीं, मुड़ गईं उस असीम की ओर, जो किसी का तिरस्कार नहीं करता। और क्षण-भर में ही उनका प्रेम भक्ति में परिणत हो गया।···और दूसरा मार्ग है सहज पकने का। लंबा मार्ग है, पर विकास का मार्ग है। जैसे-जैसे पुरुष और नारी एक-दूसरे के प्रेम में पकते जाते हैं, वे एक-दूसरे के लिए पारदर्शी होते जाते हैं। उनका प्रेम छन-छनकर असीम की ओर बढ़ने लगता है। उन्हें दिखाई देने लगता है कि उनकी आसक्ति का आधार न स्थायी है, न शाश्वत, न सर्व-शक्तिमान। इसलिए वे एक-दूसरे के सहयोग से अधिक स्थायी, शाश्वत और सर्वशक्तिमान सत्ता तक पहुंचने का प्रयत्न करते हैं। वे एक-दूसरे को प्राप्त करने के स्थान पर, मिलकर ईश्वर को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।"

केतकी उसे देखती रही। फिर बोली, "लेखक ! तुम सच बोल रहे हो या मुझे बहका रहे हो ?"

"ऐसा क्यों सोचती हो ?"

"नारी के तिरस्कार ने पुरुषों को भक्त बनाया, इसके उदाहरण तो हैं; पर उसके स्वीकार ने पुरुष को भक्ति सिखाई—इसका उदाहरण ?"

"मेरा विचार है कि हमारे पास जितने वैरागी भक्त हैं, उनसे कहीं ज़्यादा गृहस्थ भक्त हैं। जयदेव, नरसिह मेहता, कबीर—ये सब तो हैं ही। हमारी पौराणिक गाथाओं में राजा लोग सपत्नीक वानप्रस्थी हो जाते थे। वह क्या है ? वह भी तो प्रेम के निर्मल होकर आगे बढ़ जाने की कथा है।"

"पर उनकी प्रसिद्धि तो कभी नहीं सुनी !"

"प्रसिद्धि तो खैर नाटकीयता में ही अधिक होती है।" विनीत बोला, "नारी प्रेम से ईश्वर प्रेम तक पहुंचने की चर्चा सूफियों में बहुत है। उनका तो सिद्धांत ही वही है। वे भी भक्ति की बात करते हैं किंतु नारी का

विरोध नहीं करते। मजनूं को देखो। लैला नहीं मिली तो उस भाव का इतना उदात्तीकरण किया कि बोला, 'ईश्वर को भी लैला के रूप में ही आना होगा।' "

"वह तो दीवाना था।"

"दीवानगी के बिना न प्रेम होता है न भक्ति।" विनीत बोला, "जो दीवाना नहीं होता, वह अनुपलब्ध के पीछे न जाकर उपलब्ध में ही खो जाता है। तिरस्कार भी उसका विकास नहीं कर सकता और पारदर्शिता को वह समझता ही नहीं है।..."

सहसा केतकी का स्वर बदला, "तुम्हारी प्रीति-कथा तो छूट ही गई।"

"ओह हां!" विनीत हंसा।

मल्लिका उस दिन कुछ ऐसी खुली कि मैं स्वयं आश्चर्यचकित रह गया। यह लड़की चंदा के पीछे ऐसी दुबकी रहती थी कि कभी आंख उठाकर देखती भी नहीं थी; और आज जैसे उसका उल्लास फूटा पड़ रहा था। उस दिन कोई पीरियड ऐसा नहीं बीता, जिसमें उसने स्वयं मुझे संबोधित कर कुछ-न-कुछ कहा न हो, "विनीत! चंदा तुम्हारी कहानियों की बड़ी प्रशंसा कर रही थी। मैं भी पढ़ना चाहती हूं।"

और मेरा मन होता कि क्लास-क्लास छोड़कर होस्टल भाग जाऊं और कहानियों की फाइल लाकर उसे थमा दूं। लग रहा था जैसे मेरा कहानियां लिखना आज ही सार्थक हुआ है।

"विनीत! चंदा कह रही थी कि तुम भाषण बहुत अच्छा देते हो। अब कहीं जाओ तो मुझे भी बताना। मैं तुम्हें सुनना चाहती हूं।"

दिन-भर मैं किस मन:स्थिति में रहा, बताना मुश्किल है। सोचता हूं तो लगता है कि शायद मनीषी लोग इसी को ब्रह्मानन्द कहते होंगे। मन में ऐसा मद भरा हुआ था कि सब कुछ बहुत हल्का हो गया था। लगता था जैसे मुझे पंख लग गए हों और मैं नीले आकाश पर दोनों पंख पूरे के पूरे खोलकर, आंखें बंद कर झूम रहा होऊं; और सुखद ठंडी हवाएं मुझे अपने कंधों पर उठाए-उठाए डोल रही हों। शरीर में वैसे हल्केपन और स्फूर्ति

का फिर कभी वैसा अनुभव नहीं हुआ। उस दिन तो मन चाहता था कि अपना जो कुछ है, समूचा का समूचा उलीचकर उसके पैरों में डाल दूं। लगता था कि वह कुछ मांगे नहीं और मैं सिर-धड़ की बाज़ी लगा दूं। जाने क्या बात थी, मन मांग कुछ नहीं रहा था, देने पर ही तुला हुआ था। वह दान की मुद्रा अद्भुत थी। मन और शरीर में ऊर्जा के असीम स्रोत फूट आए थे जो कुछ भी कर गुज़रने के लिए मचल रहे थे…

और जब अंतिम पीरियड समाप्त हुआ और सबने अपनी पुस्तकें और फाइलें समेटीं तो वह भी उठी। पर रोज़ के समान मल्लिका चुपचाप सिर झुकाकर दरवाज़े से निकल नहीं गई। उसने रुककर एक भरपूर दृष्टि मुझ पर डाली, मुस्कराई और बोली, "अच्छा! चलती हूं। कल मिलेंगे।"

चंदा ने उसे देखा और जैसे स्वयं को रोक नहीं पाई। अत्यन्त नाटकीय ढंग से बोली, "तुझे तो बहुत पर निकल आए हैं मल्लिके!"

चंदा को संस्कृत-पद्धति से संबोधित करने का शौक था।

अप्रत्याशित ढंग से मुझे कुछ मिल भी जाए तो मैं स्थिति को संभाल नहीं पाता। उस दिन भी बैठा का बैठा ही रह गया। बहुत बुद्धू हूं। कभी-कभी तो लगता है कि एक खास तरह का गधापन भी है मेरे भीतर…

केतकी मुस्कराई, "किसी में गधापन होता है; इसलिए कोई प्राप्ति होने पर सोचता है, स्वीकार से पहले सोच तो लूं कि इसे स्वीकार करने में कोई लाभ भी है या नहीं। किसी में कुत्तापन होता है; इसलिए सदा ही जीभ मुंह से बाहर निकली रहती है और लार टपकती रहती है। जो भला-बला मिला, चाट जाता है। मैंने भी अपने जीवन में पाया है कि ग्रहण की तत्परता मनुष्य को अधिक वंचित करती है। स्वीकार के संकोच से व्यक्ति शायद ही कभी वंचित हुआ हो।"

विनीत ने उसे देखा, "आप तो त्याग का दर्शन फरमा गईं।"

पर केतकी गंभीर ही रही, "जीवन के अनुभव का निचोड़ पेश किया है। मैं मनुष्य की पशु-वृत्तियों पर बहुत दिनों से सोच रही हूं। मुझे लगता है कि जिस किसी ज्योतिषाचार्य ने भी मनुष्य की राशियों की कल्पना की

है, उसने मानव-मनोविज्ञान को बहुत गहरे जाकर पकड़ा है। कोई मनुष्य भीतर से शुद्ध पशु है, कोई निर्जीव वृत्ति। मनुष्य तो जैसे किसी व्यक्ति के भीतर है ही नहीं।"

विनीत हंसा, "तुम्हारी इस बात से एक घटना याद आ गई। सुनाऊं?"

"मल्लिका के विषय में?"

"अरे, तुम तो मुझसे भी अधिक त्रस्त हो गईं मल्लिका से।" वह हंसा, "उससे एकदम अलग बात कर रहा हूं। बहुत बाद की। मैं अपने स्कूटर पर कालेज जा रहा था। मेरा विचार है, अप्रैल का महीना था और दिन कुछ गर्म हो चुके थे। दोपहर का समय था। रिंग रोड प्रायः सुनसान थी। स्कूटर को खुली सड़क मिली इसलिए कुछ अधिक तेज़ चल रहा था। जब रामकृष्णपुरम् के पास पहुंचा तो आगे-आगे एक साइकिल पर तीन लड़के लदे जा रहे थे। वे सड़क के इतने किनारे पर थे कि उनकी कोई चिंता मुझे नहीं हुई। बस, इतना ही मन में आया कि देखो इन मूर्खों को। तीन-तीन इकट्ठे ही लदे हुए हैं।···पर तभी, जब मैं उनसे दस-पंद्रह फुट की दूरी पर था, उन्होंने मेरे सामने से साइकिल घुमाकर यू टर्न ले ली। ऐसे में मेरी स्थिति सोचो! वह तो कुछ ऐसा था, जैसे कोई तेज़ी से आती रेलगाड़ी के सामने पटरी पर कूद जाए। पर खैर, मैंने ब्रेक भी लगाई, स्कूटर को आड़ा-तिरछा भी किया। खाली सड़क थी, इसलिए किसी प्रकार उनको बचाकर, उनके पीछे से स्कूटर निकाल लिया। यूं समझो, उन्हें ही बचा लिया, स्वयं भी बुरी तरह गिरते-गिरते बचा।···उन्होंने इस सारे कांड में से गुज़रकर, बड़े खिलंडरेपन से दांत निकाल दिए। मेरे पैरों तक का खून सिर को चढ़ गया। इच्छा हुई कि जूता उतारकर उन्हें इतना पीटूं कि सदा के लिए दांत निकालना भूल जाएं। पर मैं एक था, वे तीन। सोचा, यदि मैंने कुछ कहा, तो वे अपनी गलती तो मानेंगे नहीं, उलटे मुझे ही कुछ अवांछित सुना देंगे तो मैं क्या कर लूंगा।···पर खोपड़ी में चढ़ा खून नीचे ही नहीं उतर रहा था। क्रोध के मारे सिर भन्ना रहा था···अकस्मात् ही मेरे मन में एक बात आई: यदि इस समय कोई भैंस सड़क पर से इस प्रकार निकलकर मुझे खतरे में डाल जाती, तो मैं क्या करता? क्या तब

भी मेरा मन यह हठ करता कि भैंस को उसकी करनी का दंड मिलना ही चाहिए ?…शायद नहीं। शायद क्या, एकदम नहीं।…तो वैसे ही मुझे समझ लेना चाहिए कि उन लड़कों के पास शरीर चाहे मनुष्य का था, पर उनकी आत्मा और बुद्धि भैंस की ही थी।…और यह विचार आते ही मेरा मन शांत हो गया। क्रोध जाने कहां चला गया।…और तब से जाने कितनी बार ऐसा हो चुका है कि कोई व्यक्ति कुछ गलत या अनुचित व्यवहार करने लगता है तो मैं सोचने लगता हूं कि इस मानव शरीर में आत्मा किस पशु की है ?…"

"मल्लिका के विषय में किस निष्कर्ष पर पहुंचे ?"

विनीत हंसा, "डा० श्रीमती केतकी पैटर्सन ! ज़्यादती कर रही हो तुम। प्रेमी अपनी प्रिया की आत्मा में पशु को नहीं, भाव को खोजता है—भाव भी केवल प्रेम का। वह उसकी आत्मा में डूबना चाहता है, पशुओं के रेवड़ से सिर नहीं मारना चाहता।"

"फिर भी !" केतकी हंसी, "वह तुम्हें मिल नहीं पाई; या तुम्हें छोड़ गई—जैसा भी तुम कहना चाहो ! तो आखिर कुछ तो सोचा होगा तुमने उसके विषय में भी। धूर्तता, डिसलायल्टी—क्या कहते हैं इसे हिंदी में—या इसी प्रकार के भावों को रिप्रेज़ेंट करने वाला कोई पशु !"

"कुछ कह नहीं सकता !" विनीत बोला, "कभी सोचा नहीं इस विषय में। ईमानदारी से स्वीकार करूं तो कहूंगा, वह आज भी मेरे लिए अत्यन्त रहस्यमयी है। उसे पूरी तरह जान नहीं पाया हूं मैं। यदि वह मुझसे खेल कर रही थी—जैमिनी कहूं उसे। या शायद बहुत भीरु और सावधान थी, तो कैप्रिकार्न कहूं। या शायद बहुत संकोची थी—पूर्ण रूप से कन्या।…या…"

"अच्छा, छोड़ो राशि को।" केतकी बोली, "यह बताओ, हुआ क्या?"

मैं सारा दिन यही गुत्थी सुलझाता रह गया कि आज अकस्मात् मल्लिका इतनी खुल कैसे पड़ी ? आज नया क्या हुआ था ?…नया केवल यह हुआ था कि खादी वाली राखी का भेद खुल जाने के कारण चंदा का

मेरे प्रति भाव स्पष्ट हो गया था···

ओह ! मेरे मस्तिष्क को जैसे राह भी मिली और राहत भी। ठीक। यही बात रही होगी। संभव है कि मल्लिका मेरी ओर बढ़ना चाहकर भी मेरे निकट न आ पा रही हो; क्योंकि वह समझती रही हो कि चंदा की मुझमें रुचि है। संभव है कि वह चंदा के मार्ग में न आना चाहती हो। या हो सकता है कि वह उस लड़के में रुचि न लेना चाहती हो, जिसमें किसी और की पहले से रुचि है···आज उसे मालूम हो गया था कि चन्दा की दृष्टि कुछ और है। उसका संशय दूर हो गया और मन की उलझनें सुलझ जाने के कारण ही उसका वह उल्लास फूट पड़ा था···

उसके लगभग एक सप्ताह बाद की बात होगी। यूनिवर्सिटी पहुंचने में मुझे कुछ देर हो गई थी। अध्यापक तो अभी नहीं आए थे, और शायद घंटी भी अभी नहीं बजी थी। पर विद्यार्थी प्रायः आ चुके थे। आगे की कई कतारों के सारे डेस्क घिर चुके थे। मैं दरवाज़े पर ही ठिठक गया। पहली कतार में चंदा भी दिखाई नहीं पड़ रही थी। वह होती तो मैं मान लेता कि उसने मेरे लिए सीट रखी ही होगी। पर वह वहां नहीं थी। मल्लिका अवश्य वहां बैठी थी, पर मल्लिका ने मेरे लिए सीट रखी होगी क्या ? यह पूछने जाना भी तो अच्छा नहीं लगता।···चंदा की बात और थी। वह धाकड़ लड़की थी और फिर वह मुझे भाई मान चुकी थी। मेरे लिए एक सीट रोकने में उसे संकोच नहीं था। पर मल्लिका ने उसकी आवश्यकता समझी भी होगी क्या ? फिर वह बेतरह संकोची लड़की है। मेरे लिए सीट रोकते हुए उसे असुविधा हो सकती है···

पर मैं उसके पास पहुंचा, "आज चंदा नहीं आई ?"

उसने फाइल पर झुका हुआ अपना सिर उठाकर मुझे देखा और ऐसी खुली मुस्कान उसके चेहरे पर बिछ गई कि मैं अपनी समस्या को ही भूल गया। मन में इतने कमल खिले कि कुछ कहने से स्वयं को रोकना कठिन हो गया। कुछ कह देता तो जाने उसकी क्या प्रतिक्रिया होती। वह लजा जाती, संकुचित हो जाती या नाराज़ हो जाती। कुछ भी होता, वह मुस्कान उसके चेहरे पर न रहती।···

"चंदा आज नहीं आएगी," उसकी मुस्कान में पुनः आभा आई, "पर

तुम्हारे लिए सीट है।"

उसने अपनी पुस्तकें समेट लीं, "बैठो।"

मैं बैठ गया, "तुम्हारा धन्यवाद करूं?"

"जी चाहे धन्यवाद करो, आभार मानो, आजीवन गुलामी लिख दो।" वह खिलखिला पड़ी, "मैंने सुना है, टर्मिनल परीक्षा में तुमने रामजस में टाप किया है।"

मैंने उसकी मुस्कान को खुली आंखों से भरपूर देखा, "हां। अधिकतम अंक मेरे ही हैं।...पर तुम्हें कैसे मालूम हुआ?"

वह मुस्कराई, "खबर रखने वाले ताड़ ही लेते हैं।" वह रुकी, "पुराने महारथी उलट गए?"

मैं क्या कहता। समझ नहीं पाया।

वह गंभीर हो गई, "विनीत!"

"हां।"

"तुम्हें पता है कि रामजस में टाप करने वाला प्रायः यूनिवर्सिटी में भी टाप करता है?"

"मुझे मालूम नहीं है।" मैंने कहा।

"मैं बता रही हूं।" वह बोली, "फर्स्ट क्लास तो हमारे कालेज से भी एक-आध आ जाती है, पर टापर या तो इंद्रप्रस्थ कालेज की लड़की होती है या रामजस कालेज का लड़का।"

"अच्छा!"

"याद रखना। फाइनल में तुम्हें यूनिवर्सिटी में टाप करना है।" वह मुझे ऐसे देख रही थी, जैसे पूरी तरह सम्मोहित कर मुझसे वचन ले लेगी।

"प्रयत्न करूंगा।"

"प्रयत्न नहीं।" वह बोली, "यह तो तुम्हें करना ही है।"

अध्यापक आ गए; कक्षा व्यवस्थित हो गई। हमारी बातचीत बीच में ही रुक गई। फिर लंच-ब्रेक तक कोई विशेष बात हुई नहीं। लंच-ब्रेक के समय मैं उठकर खड़ा हुआ तो उसने पूछा, "खाना खाने जा रहे हो?"

मेरे प्रति भाव स्पष्ट हो गया था···

ओह ! मेरे मस्तिष्क को जैसे राह भी मिली और राहत भी। ठीक। यही बात रही होगी। संभव है कि मल्लिका मेरी ओर बढ़ना चाहकर भी मेरे निकट न आ पा रही हो; क्योंकि वह समझती रही हो कि चंदा की मुझमें रुचि है। संभव है कि वह चंदा के मार्ग में न आना चाहती हो। या हो सकता है कि वह उस लड़के में रुचि न लेना चाहती हो, जिसमें किसी और की पहले से रुचि है···आज उसे मालूम हो गया था कि चन्दा की दृष्टि कुछ और है। उसका संशय दूर हो गया और मन की उलझनें सुलझ जाने के कारण ही उसका वह उल्लास फूट पड़ा था···

उसके लगभग एक सप्ताह बाद की बात होगी। यूनिवर्सिटी पहुंचने में मुझे कुछ देर हो गई थी। अध्यापक तो अभी नहीं आए थे, और शायद घंटी भी अभी नहीं बजी थी। पर विद्यार्थी प्राय: आ चुके थे। आगे की कई कतारों के सारे डेस्क घिर चुके थे। मैं दरवाज़े पर ही ठिठक गया। पहली कतार में चंदा भी दिखाई नहीं पड़ रही थी। वह होती तो मैं मान लेता कि उसने मेरे लिए सीट रखी ही होगी। पर वह वहां नहीं थी। मल्लिका अवश्य वहां बैठी थी, पर मल्लिका ने मेरे लिए सीट रखी होगी क्या ? यह पूछने जाना भी तो अच्छा नहीं लगता।···चंदा की बात और थी। वह धाकड़ लड़की थी और फिर वह मुझे भाई मान चुकी थी। मेरे लिए एक सीट रोकने में उसे संकोच नहीं था। पर मल्लिका ने उसकी आवश्यकता समझी भी होगी क्या ? फिर वह बेतरह संकोची लड़की है। मेरे लिए सीट रोकते हुए उसे असुविधा हो सकती है···

पर मैं उसके पास पहुंचा, "आज चंदा नहीं आई ?"

उसने फाइल पर झुका हुआ अपना सिर उठाकर मुझे देखा और ऐसी खुली मुस्कान उसके चेहरे पर बिछ गई कि मैं अपनी समस्या को ही भूल गया। मन में इतने कमल खिले कि कुछ कहने से स्वयं को रोकना कठिन हो गया। कुछ कह देता तो जाने उसकी क्या प्रतिक्रिया होती। वह लजा जाती, संकुचित हो जाती या नाराज़ हो जाती। कुछ भी होता, वह मुस्कान उसके चेहरे पर न रहती।···

"चंदा आज नहीं आएगी," उसकी मुस्कान में पुन: आभा आई, "पर

तुम्हारे लिए सीट है।"

उसने अपनी पुस्तकें समेट लीं, "बैठो।"

मैं बैठ गया, "तुम्हारा धन्यवाद करूं?"

'जी चाहे धन्यवाद करो, आभार मानो, आजीवन गुलामी लिख दो।" वह खिलखिला पड़ी, "मैंने सुना है, टर्मिनल परीक्षा में तुमने रामजस में टाप किया है।"

मैंने उसकी मुस्कान को खुली आंखों से भरपूर देखा, "हां। अधिकतम अंक मेरे ही हैं।...पर तुम्हें कैसे मालूम हुआ?"

वह मुस्कराई, "खबर रखने वाले ताड़ ही लेते हैं।" वह रुकी, "पुराने महारथी उलट गए?"

मैं क्या कहता। समझ नहीं पाया।

वह गंभीर हो गई, "विनीत!"

"हां।"

"तुम्हें पता है कि रामजस में टाप करने वाला प्रायः यूनिवर्सिटी में भी टाप करता है?"

"मुझे मालूम नहीं है।" मैंने कहा।

"मैं बता रही हूं।" वह बोली, "फर्स्ट क्लास तो हमारे कालेज से भी एक-आध आ जाती है, पर टापर या तो इंद्रप्रस्थ कालेज की लड़की होती है या रामजस कालेज का लड़का।"

"अच्छा!"

"याद रखना। फाइनल में तुम्हें यूनिवर्सिटी में टाप करना है।" वह मुझे ऐसे देख रही थी, जैसे पूरी तरह सम्मोहित कर मुझसे वचन ले लेगी।

"प्रयत्न करूंगा।"

"प्रयत्न नहीं।" वह बोली, "यह तो तुम्हें करना ही है।"

अध्यापक आ गए; कक्षा व्यवस्थित हो गई। हमारी बातचीत बीच में ही रुक गई। फिर लंच-ब्रेक तक कोई विशेष बात हुई नहीं। लंच-ब्रेक के समय मैं उठकर खड़ा हुआ तो उसने पूछा, "खाना खाने जा रहे हो?"

"हां।" मैंने कहा, "चंदा क्यों नहीं आई आज ?"

लगा, उसकी आंखों की आभा पर एक हल्का-सा वादल छा गया, "चंदा के विना मन नहीं लगता क्या ?"

"नहीं। यूं ही पूछा।" मैंने वात को हल्का किया, "जनरल नौलेज के लिए।"

"उसकी सगाई है आज।" वह वोली, "वहन की सगाई सेलिब्रेट नहीं करोगे ?"

"आओ।" मैंने कहा, "चलो, तुम्हें कुछ खिला लाएं।"

वह कुछ सहज हुई, "तुम क्या खिलाओगे, मैस के नौकरों द्वारा पकाया गया वह स्वादिष्ट खाना !"

"अपनी औकात तो इतनी ही है।" मैं वोला।

"लो हम सेलिब्रेट करते हैं।" वह वोली, "चंदा की सगाई नहीं, तुम्हारा रिज़ल्ट।"

उसने अपना लंच-वाक्स खोला, "यह मिठाई तुम्हारे लिए ही लाई हूं।"

मैंने देखा : लंच-वाक्स में ऊपर ही ऊपर वर्फी की दो वड़ी-वड़ी टुकड़ियां पड़ी थीं।

"उठाओ।" वह वोली, "तुम्हारे लिए ही लाई हूं। जल्दी उठाओ। मेरी सहेलियों की दृष्टि पड़ गई तो झपट लेंगी। तुम खा नहीं पाओगे और मैं भूखी रह जाऊंगी।..."

मैंने जैसे उसके स्वर से सम्मोहित होकर उसके आदेश का पालन किया। मैंने एक टुकड़ी उठा ली।

"दोनों उठाओ।" वह वोली, "तुमने आज मेरा कहा नहीं माना तो नाराज़ हो जाऊंगी।"

"अव देखो।" मैं कुछ अटपटाकर वोला, "न तो यहां वर्फी खाता हुआ अच्छा लगूंगा और न ही मुट्ठी में पकड़े-पकड़े होस्टल तक जा सकूंगा।"

"ऐसा करो।" मल्लिका वोली, "एक टुकड़ी मुंह में डाल लो और एक मुट्ठी में वंद कर लो।"

"अच्छा।" मैं धीरे से बोला, "उठा तो लेता हूं, पर फिर चोरों के समान छुपकर भाग जाऊं तो बुरा नहीं मानना।"

"नहीं मानूंगी।"

उस दिन छुट्टी के समय मैं अलग से होस्टल नहीं भागा। इच्छा थी कि मल्लिका यदि रुक जाए तो थोड़ा समय उसके साथ बिताया जाए। असल में उससे अलग होने की इच्छा नहीं हो रही थी। जमशेदपुर होता तो चाहे मैं उसके साथ-साथ उसके घर चला जाता, या उसे अपने घर ले आता। पर यह दिल्ली थी। उसके घर वालों से मेरा कोई परिचय नहीं था। अभी हमारे संबंधों में इतनी घनिष्ठ स्थिरता भी नहीं आई थी कि मैं उसके घर जाने की बात सोच सकता।...और मेरा घर था—होस्टल। होस्टल में लड़कियों का आना मना था। वैसे भी उसे होस्टल में ले जाना व्यर्थ का एक बवंडर उठाना था।

मुझे खड़े देख उसने एक प्रश्नवाचक दृष्टि मुझ पर डाली।

"साथ-साथ चलते हैं।" मैंने धीरे से कहा।

पर उसके साथ चलने वाली उसकी अनेक सखियां थीं। कोई उसे जल्दी चलने को कह रही थी और कोई उसकी पुस्तकें समेट रही थी।

मुझे लग रहा था, बात कुछ बनेगी नहीं। उसके साथ उसकी सहेलियों का जुलूस हो तो मेरा साथ चलना, न चलना क्या अर्थ रखता है!

पर उसने जैसे समाधान खोज लिया था। बोली, "पहले ज़रा लायब्रेरी चलते हैं।" और फिर जैसे अपनी सहेलियों को सुनाती हुई मुझसे बोली, "विनीत! तुम कह रहे थे कि लायब्रेरी में पाश्चात्य काव्यशास्त्र पर कोई नई पुस्तक देखी है तुमने—शायद पेंगुइन वालों की, जिसमें अरस्तु, होरेस और लांजाइनस के मूल टेक्स्ट का अंग्रेजी अनुवाद है।"

"हां।" मैंने कहा।

"वह ज़रा मुझे खोज दो प्लीज़!"

"चलो।" मैंने कहा। मुझे तो उसके साथ रहने का बहाना चाहिए था—माध्यम चाहे कुछ हो।

"लायब्रेरी कल सुबह चली जाना न !" सरला बोली, "अभी देर हो जाएगी।"

"नहीं भई ! ज़रूरी है।" वह बोली, "अभी तो विनीत है। कल सुबह खोजेगा कौन ? और फिर कल है भी तो आफ डे। कल मैं यूनिवर्सिटी नहीं आ रही। घर में बैठकर पढ़ूंगी। कुछ ट्यूटोरियल्स भी तैयार करने हैं और कुछ नोट्स भी पूरे करने हैं।"

"भई ! मेरी तो स्पेशल छूट जाएगी।" गीता चली गई।

सीढ़ियां हम भी उनके साथ ही उतरे, पर उसके बाद हम दोनों लायब्रेरी की ओर मुड़ गए।

एकांत हुआ तो उसने मेरी ओर देखा।

"कहीं चलें ?" मैंने पूछा।

"जहां मन चाहे ले चलो।"

मेरे लिए यह बहुत ही अप्रत्याशित था। मेरा गधापन फिर आड़े आ गया। कुछ सोच ही नहीं पाया कि कहां चलने का प्रस्ताव करूं। एक बार मन में आया भी कि कहूं, 'चलो वैंगर्स में चलकर बैठते हैं।' पर तुरंत विचार आया कि संभवतः वह इस प्रकार चलकर वैंगर्स में मेरे साथ अकेले बैठना पसंद न करे। मैं भी इस प्रकार का कोई प्रचार नहीं चाहता था। फिर, मेरी जेब में शायद दो-तीन रुपयों से ज़्यादा कुछ था भी नहीं। इतने में क्या हो पाएगा; और वहां बैठकर अपनी भद्द कराने का क्या लाभ ?

उसके इस भावुक वाक्य का उत्तर मैं अपनी भावुकता में ही दे पाया, "मेरा तो मन होता है कि तुम्हें जमशेदपुर ले चलूं, अपनी मां के पास।"

वह मुस्कराई, "कैसा शहर है तुम्हारा जमशेदपुर ?"

"बढ़िया शहर है।" मैं बोला, "साफ-सुथरा। आधुनिक। आत्मीयता-भरा...।" और जाने मैं जमशेदपुर की प्रशंसा में क्या-क्या कह गया।

उसने दो-चार और प्रश्न मेरे परिवार और नगर के विषय में पूछे। मैं उसके प्रश्नों के उत्तर इतनी गंभीर तल्लीनता से देता रहा कि अपने परिवेश का मुझे ध्यान ही नहीं रहा।... जब हमारे पग रुके तो मैंने पाया कि हम मौरिस नगर के स्टाप पर खड़े हैं और सामने ही पैंतीस नंबर बस

चलने को तैयार खड़ी है। उसने विदा में अपना हाथ उठाया, "अच्छा।" और बस उसे निगल गई।

तब मुझे अपनी अतृप्ति का अहसास हुआ और मैंने मन-ही-मन प्रसाद की पंक्तियां दुहराईं :

"देखा बौने जलनिधि का
शशि छूने को ललचाना
वह हाहाकार मचाना
वह उठ-उठकर गिर जाना।"

बस चल पड़ी और मैं अपने भकुएपन को कोसता हुआ होस्टल की ओर चल पड़ा।...वह मेरे लिए रुकी भी। कहीं भी चलने को तैयार भी थी। और मैं उसे जमशेदपुर का भूगोल और इतिहास पढ़ाता रहा। और जब वह बस में बैठ गई तो इतना भी नहीं सूझा कि उसके साथ ही चल पड़ता। रास्ते में कहीं उतर जाता। न भी उतरता तो बस को घूमकर फिर मौरिस नगर ही तो लौटना था।...

होस्टल में लौटा तो इतना परेशान था कि किसी काम में मन ही नहीं लग रहा था। मेरे भीतर जैसे कोई वहशी दरिंदा, कोई हिंस्र पशु जाग उठा था। मन हो रहा था कि अपनी सारी किताबें-कापियां फाड़ दूं, होस्टल को आग लगा दूं, अपने बाल नोच लूं या दूसरे लोगों का सिर फोड़ दूं।

मैं ऐसी बेज़ारी की हालत में बैठा था कि त्रिपाठी आ गया, "चल, ज़रा कमला नगर चलते हैं।"

"मुझे कोई काम नहीं है कमला नगर में।" मैंने कहा और उसे धकिया कर कमरे का दरवाज़ा बंद करना चाहा।

पर उसने दरवाज़ा बंद करने नहीं दिया। बीच में अपना पैर अड़ाकर रोक दिया। कुछ क्षण वहीं खड़ा मुझे घूरता रहा; और फिर जैसे उसने कोई निर्णय ले लिया। बड़े दृढ़ कदमों से वह कमरे के अंदर आया और दरवाज़ा भीतर से बंद कर दिया। कुर्सी खींच ली और स्वयं बैठकर बोला, "बैठो।"

मैं आज्ञाकारी बच्चे के समान चुपचाप उसके सामने पलंग पर बैठ

गया ।

"आज मैंने क्लास में देखा था," वह बोला, "जिस प्रकार रीझ-रीझकर वह मल्लिका तुम्हें देख रही थी, उसी से मुझे लगा कि मामला कुछ इश्क का है।"

वह चुप होकर जैसे मेरे चेहरे पर जलती-बुझती प्रतिक्रियाओं को देखता रहा। फिर उसने निश्चयात्मक स्वर में पूछा, "झगड़ा हो गया क्या ?"

मैं भीतर से कुछ इतना भरा बैठा था कि उसकी इतनी ही कोंच से फूट पड़ा। मैंने बिना कौमा, फुल-स्टाप का लिहाज़ किए, आदि से अंत तक सारी बात सुना दी ।

"तुम तो निरे पागल हो।" उसने मुझे डांटा, "उसने जब कहा था कि 'जहां चाहे ले चलो' तो उसका अर्थ यह थोड़ी था कि तुम मूर्खों के समान उसके सामने अपनी मां, अपने परिवार और अपने नगर की चर्चा छेड़ दो। अरे, उसे कहीं घुमाने ले जाते। किसी रेस्ट्रां की बात करते, किसी होटल में जा बैठते, किसी थियेटर में ले जाते···।"

मैं कुछ झेंपा, कुछ अपने ऊपर खीझा, "आज तक अपने-आप किसी रेस्ट्रां या थियेटर में नहीं गया। जब जाता हूं, अपने मित्रों के साथ जाता हूं। वे ही तय करते हैं कि कहां जाना है, क्या खाना है। किसी बड़े होटल में तो कभी मैं गया ही नहीं।"

"इस तरह इश्क नहीं होगा। गुरु !" वह बोला, "इश्क में तो बहुत सारे पापड़ बेलने पड़ते हैं। योजनाएं भिड़ानी पड़ती हैं, भाग-दौड़ करनी पड़ती हैं, पैसा खर्च करना पड़ता है।"

"पैसे भी तो नहीं थे मेरे पास।" मैंने अपनी असहायता जता दी।

"उसे ठहरने को कहकर होस्टल में आकर किसी से पैसे ले जाते।" वह बोला।

कहना तो चाहता था, पर कह नहीं सका कि मुझे उधार लेने में बहुत संकोच होता है—चाहे मामला इश्क का ही क्यों न हो।

"या फिर कुछ ऐसी जगहें, जहां कम पैसे में अधिक समय बिताया जा सकता है। उसे इंडिया गेट ले जाते, चिड़ियाघर में सारा दिन इधर-

उधर घूमकर बिताया जा सकता है, लाल किला है, म्यूज़ियम है, कुतुब मीनार है···।"

मुझे स्वीकार करना पड़ा कि न तो ये सारे स्थान मैंने देखे हैं और न मुझे यह सत्र सूझा था।

"तो अब मुंह बिसूरना बंद करो।" वह बोला, "देखो, मैं दूर से देखता हूं कि ममता बस में चढ़ गई है। मैं थ्री-व्हीलर स्कूटर लेता हूं और तीन-चार स्टाप आगे जाकर बस स्टाप पर खड़ा हो जाता हूं। और फिर नाटकीय ढंग से उसी बस में चढ़ता हूं, जिसमें वह पीछे से आ रही है। उसे बस में आकस्मिक ढंग से मिलता हूं। फिर कोई ऐसा काम, ऐसे स्थान पर बताता हूं, जहां उसे भी सुविधा से बस में से उतार लूं। और फिर चाहे सारा दिन हम आर्ट गैलरी में ही टहलते रहें। इश्क करना है तो थोड़ी कला सीखो बर्खुरदार !" और उसने प्रस्ताव रखा, "कल ही जब देखो कि वह बस में चढ़ गई है तो थ्री-व्हीलर लेकर माल रोड चले जाओ। वहां से उसकी बस में चढ़ जाओ। और बस में मिलकर कोई कार्यक्रम बना डालो। पैसे-वैसे की भी तैयारी रखो। ऐसा कार्यक्रम तो तुम जिस दिन चाहो, उसी दिन बना सकते हो। इसमें परेशान होने की क्या बात है ?"

उस दिन, काफी रात गए तक मैं त्रिपाठी की बातों के विषय में सोचता रहा, पर मैं उसके इश्किया तरीकों से तनिक भी सहमत नहीं हो पाया। मैं मल्लिका की निकटता चाहता था। उसके पास होने की, उससे बातें करने की—बहुत उत्कट इच्छा उठती थी मेरे भीतर। पर मैं बनावट का सहारा नहीं ले सकता था। मैं उसके साथ खेल या अभिनय नहीं कर सकता था।···फिर यदि मैं योजनाओं के इस जाल में उलझता चला गया तो निश्चित रूप से अपनी पढ़ाई से दूर होता जाऊंगा।···और मैं यहां जो लक्ष्य लेकर आया हूं—विश्वविद्यालय में प्रथम आने का।···मल्लिका भी बार-बार कहती है कि मुझे यूनिवर्सिटी में टाप करना है। अपनी महत्त्वाकांक्षा के लिए भी मुझे पढ़ना है, जीवन में कुछ बनने के लिए भी पढ़ना है, मल्लिका का दिल जीतने के लिए भी पढ़ना है···नहीं ! मैं त्रिपाठी के समान प्रोफैशनल आशिक नहीं बन सकता।···मैं अपना प्रेम तो से ही करूंगा। मुझे तो प्रेम में जो सहज रूप से मिलेगा, उसी

करूंगा। प्रेम के क्षेत्र में भी प्राप्ति के लिए षड्यंत्र मुझसे नहीं हो सकेंगे।

"वैसे! वाई द वे।" केतकी छिपे ढंग से मुस्करा रही थी, "यदि आज मैं तुम्हारे घर आने का प्रस्ताव न करती; और कहती कि कहीं और चलते हैं तो तुम मुझे कहां ले जाते?"

विनीत मुस्कराया, "तुम मेरी कमज़ोरी जानती हो। मैं तो 'घर-पाखी' हूं। बाहर कहीं जाना मुझे सूझता ही नहीं। कोई किसी विशेष स्थान का नाम ले दे तो दायित्व में बंधा-बंधा वहां जा सकता हूं; अन्यथा मुझे कभी कोई स्थान ही नहीं सूझता।"

"तुम बहुत ही डोमेस्टिकेटेड हो।" केतकी बोली, "घर के बाहर यू आर नाट एट ईज़।"

"शायद कुछ ऐसा ही है।" विनीत ने बिना किसी आपत्ति के स्वीकार कर लिया।

"हमने शायद केवल एक फिल्म एक साथ देखी थी; वह भी मेरा ही प्रस्ताव था।" वह हंसी, "तुम रोमांस के लिए भी आउटिंग नहीं कर सकते।"

"शायद मैं ऐसा ही हूं—घर-घुसरा।"

पहले तो मल्लिका मुझे बहुत उदास लगी, पर जब और अधिक ध्यान से देखा, तो वह उदास से भी कुछ ज़्यादा ही लगी। उसकी आंखें कुछ ऐसी डबडबाई हुई थीं, जैसे आंसू अभी गिरे कि गिरे।

मैं किंकर्तव्यविमूढ़-सा खड़ा का खड़ा रह गया: क्या करूं? एक बार मन में उठा, उसके परिवार में कोई दुखद घटना न घट गई हो। पर वैसा कुछ होता तो वह यूनिवर्सिटी ही क्यों आती।...तो? तो क्या? पूछे बिना कैसे पता चलेगा!...पर वह तो अपनी सखियों से ऐसे घिरी थी, जैसे किलेबंदी कर दी गई हो। वह किसी तक जा न सके और कोई उस तक पहुंच न सके।...पूछूं भी तो क्या पूछूं...और कैसे पूछूं?...कहीं यह

न हो कि मैं कुछ पूछूं और उसके आंसू टपकने लगें।···इस भीड़ में उसे चुप भी तो नहीं करा सकूंगा। न उसके आंसू पोंछ सकूंगा। फिर वह बैठी रोती रहेगी और मैं अपने भीतर ही भीतर ऐंठता रहूंगा···उस रोज़ मैंने पहली बार जाना था कि प्रिया को वक्ष से लगा सांत्वना देने की या उसके गले लग रोने की इच्छा में कितना बल होता है···

काफी देर तक इधर-उधर मंडराते रहने के बाद भी जब मैं अपने-आपको रोक नहीं पाया तो किसी प्रकार घिसटता-घिसटता उसके पास चला गया, "क्या बात है मल्लिका?"

उसने डबडबाई आंखों से एक क्षण के लिए मुझे देखा। मुझे लगा, उसकी आंखें और अधिक भर आई हैं। बिना कुछ कहे ही उसने सिर झुका लिया···

चंदा ने मेरी ओर देखा और बहुत ही धीमे स्वर में बोली, "तुम अभी जाओ यहां से।"

मैं कुछ समझ नहीं पाया। पर कर भी क्या सकता था। चंदा ने जिस ढंग से मुझे वहां से जाने के लिए कहा था और जिस प्रकार मल्लिका की आंखें मुझे देखकर और भी भर आई थीं, उससे तो यही लगता था कि यदि मैं उसके पास जाऊं, पूछने का आग्रह करूं या उसे सांत्वना देने का प्रयत्न करूं तो स्थिति और भी बिगड़ेगी। पर मेरे कारण स्थिति क्यों बिगड़ेगी? मैंने ऐसा क्या किया है?

मैं इसी ऊहापोह में डूबता-उतराता रहा: आखिर ऐसी क्या बात हो गई है कि मुझे बताया भी नहीं जा सकता और मेरे पास जाते ही स्थिति और भी गंभीर हो जाती है।···

काव्यशास्त्र और भाषा-विज्ञान के व्याख्यानों में मेरा ध्यान लग ही नहीं रहा था। जी में आता था कि उठकर कक्षा से बाहर चला जाऊं। जब किसी का पढ़ाया खोपड़ी में कुछ घुस ही नहीं रहा था तो फिर व्यर्थ बैठकर परेशान होने की क्या आवश्यकता थी?···पर इतना तो था कि मल्लिका सामने बैठी थी। सूजी-सूजी आंखों से कभी अध्यापक को और कभी शून्य को देखती थी। कभी-कभी कुछ लिख भी लेती थी।···मैं कक्षा से उठकर चला गया तो उसकी वे सूजी-सूजी डबडबाई आंखें मेरे वक्ष में

बरमे की तरह छेद करती रहेंगी···फिर यह भी संभव है कि किसी समय उसकी सहेलियों के किले की दीवार में कोई दरार पड़ जाए। संभव है उससे दो बातें करने का अवसर मिल जाए या किसी प्रकार थोड़ा आभास मिल जाए कि आखिर बात क्या है···

पर पीरियड खत्म होता और अध्यापक कमरा छोड़ते तो वह भी उठकर बाहर बरामदे की मुंडेर पर जा बैठती और उसकी सखी-सहेलियां पूरे ताम-झाम के साथ उसे फिर से वैसे ही घेर लेतीं। मुझे तो कुछ-कुछ लगने लगा था कि उसकी सहेलियां उसे सायास मुझसे दूर रख रही थीं···

चंदा से भी बात नहीं हो पा रही थी। या तो वह भी मल्लिका के पास ही सिमट गई होती या फिर वह दिखाई ही नहीं देती।

तभी लंच-ब्रेक हो गया।

"काफी जासूसी किस्सा हो गया।" सहसा केतकी बोली।

"बता तो तुम्हें मैं सहज ही दूं···"

"नहीं ! नहीं ! !" केतकी ने टोका, "भूलकर भी ऐसा मत करना, नहीं तो कथा का सारा रस ही सूख जाएगा। फिर तो वह न्यूज़ पेपर की रिपोर्टिंग हो जाएगी, सरस साहित्य नहीं रहेगा।"

"न्यूज़ पेपर की रिपोर्टिंग तो तब हो जब उसमें कोई स्कैंडल हो। कोई सनसनी हो। लोग भड़कें और अखबार खरीदें। केतकी !" विनीत बोला, "पहले मैं समझता था कि पत्रकारों का लक्ष्य बहुत ऊंचा होता है—सत्य के लिए लड़ना। अब जैसे-जैसे जीवन को देखा है, विशेषकर अपने आस-पास के जीवन को—तो पाया कि सड़क और चौराहों पर चिल्ला-चिल्लाकर अखबार बेचने वाले लड़के और अच्छे से अच्छे, ऊंचे से ऊंचे पत्रकार के लक्ष्य में कोई अंतर नहीं है। दोनों का लक्ष्य एक ही है—अधिक से अधिक अखबार बेचना। उसके लिए लड़का अपने स्वर को विकृत कर रहा है और पत्रकार अपनी बुद्धि और कलम को।"

"तुम न्यूज़ पेपर रिपोर्टिंग को रहने दो।" केतकी बोली, "तुम हमें सरस साहित्य ही सुनाओ।"

"तो फिर जिज्ञासा-तत्त्व अभी और खिचेगा। स्वीकार है ?" विनीत ने पूछा।

"स्वीकार है, स्वीकार !" वह बोली, "सचमुच, कथाकार से उसके जीवन की घटना भी सुनो तो वह सरस कथा बन जाती है।···तुम गड़बड़ मत करना। एंड नो शार्टकट प्लीज़। इसे उपन्यास के समान ही सुनाओ।"

"तो फिर ऐसा करो," विनीत बोला, "पहले भोजन का प्रबंध कर लो। वह हो जाए तो फिर खा-पीकर आराम से किस्सा-कहानी करते चलेंगे।"

"ठीक है।" केतकी उठ खड़ी हुई, "कुछ सहायता करोगे ?"

"कैसी सहायता ?"

"तुम्हारी पत्नी···क्या नाम है ?"

"शोभा।"

"शोभा ने तुम्हें कुछ काम-काज भी सिखाया है, या पतिदेव को पलंग पर ही थाली परोस देती है ?"

"तुम जानती नहीं हो।" वह बोला, "मैं अब पक्का गृहस्थ हूं। ढेर सारे नान-टैक्निकल काम कर सकता हूं। कर सकता ही नहीं, कर लेता हूं।"

"नान-टैक्निकल का अर्थ ?"

"जो काम एक अप्रशिक्षित मज़दूर कर सकता हो।"

"समझ गई।" केतकी बोली, "तो फिर फ्रिज से सामान निकालकर रसोई में ले आओ और मुंडू की तरह सहायता करने के लिए हाथ बांधकर पास खड़े रहो।"

विनीत ने सामान निकालकर किचन स्लैब पर रख दिया।

केतकी काम करती रही। जो कुछ मांगती, विनीत पकड़ा देता। बीच में अवसर पाकर वह मेज़ पोंछ आया। दो प्लेटें, गिलास, कटोरियां इत्यादि भी लगा आया।

"तुम्हें मल्लिका से विवाह न होने का कभी अफसोस नहीं होता ?" सहसा केतकी ने पूछा।

"रसोई में केवल रसोई की बात होगी।" विनीत ने उत्तर दिया,

"कथा की बात उस कमरे में, खाना खाने के बाद।"

"मैं रसोई की ही बात कर रही हूं।" केतकी मुस्कराई, "इसलिए यहीं इसका उत्तर दो।"

"रसोई की बात कैसे है यह ?" विनीत ने जिरह की, "अपने प्रेम की असफलता, उसका पश्चात्ताप और जीवन में सांसों के साथ घुल जाने वाला विप्रलभ शृंगार क्या रसोई की चर्चा का विषय है ?"

"नहीं भोले मजनूं।" केतकी ने परिहास की मुद्रा में उसे पुचकारा, "यह सचमुच रसोई का ही विषय है।"

"कैसे ?"

"मसाले कहां रखे हैं ?" केतकी ने रसोई के शेल्फों को आंखों और हाथों—दोनों से टटोलना आरंभ किया।

"वे रहे।" विनीत ने अंगुली से संकेत किया, "क्या चाहिए ?"

"अभी कुछ नहीं चाहिए।" केतकी बोली, "केवल जांच कर रही थी कि तुम्हारे घर में मिर्च-मसाला रसोई में ही रखा जाता है न।"

विनीत हंस पड़ा, "तो और कहां रखा जाएगा ?"

"तो जो बात मैं पूछ रही थी—मल्लिका से विवाह न होने के अफसोस की, वह भी तो बातों का मिर्च-मसाला ही था।" केतकी बोली, "तभी तो रसोई में चर्चा छेड़ी।"

"ओ हो ! बहुत नटखट हो गई हो। हमें ही लगा गई !"

"भई विनीत ! बुरा नहीं मानना।" केतकी मुस्कराई, "पर मुझे लगता है कि इतने दिनों बाद तुमसे मिलने के कारण, तुम्हारी कंपनी में मैं वह हो गई हूं—क्या कहते हैं उसे···भ्रमरगीत प्रसंग में सूरदास की गोपियां क्या थीं ?"

"प्रगल्भ।"

"एक्ज़ेक्टली। बहुत प्रगल्भ हो गई हूं।"

"That is a compliment to me." विनीत बोला, "हम अपने प्रियजनों की संगति में ही प्रगल्भ होते हैं।"

"मैं भी तुम्हें यही जताना चाह रही थी।" केतकी बोली, "नहीं तो I am supposed to be quite cold a lady." वह रुकी, "अच्छा

बताओ।"

"क्या ?"

"तुम्हें मल्लिका के न मिलने का अफसोस है या नहीं ?"

"नहीं।"

"पक्का ?"

"पक्का। मुझे याद नहीं कि उससे अलग होकर मैंने कभी फिर से उसके पास लौट जाने की बात सोची हो। कभी उसे याद करके उदास हुआ होऊं।"

"क्या तुम उससे प्रेम नहीं करते थे ?"

"जब तक उससे मोह था, तो यही मानता था कि उससे प्रेम करता हूं।" विनीत बोला, "आज भी जब उसकी चर्चा होती है, या उससे आमना-सामना हो जाता है, तो एक पुलक, एक सिहरन-सी मेरे तन-मन में दौड़ जाती है। फिर भी यह सत्य है कि मैंने कभी लौटकर वापस उसके पास जाने की बात नहीं सोची। कभी रोया-पछताया भी नहीं। उसके बाद दूसरा प्रेम-प्रसंग चला। वह सफल रहा। शोभा के साथ मेरा विवाह हुआ।···और मैं आज भी मानता हूं कि मैं मल्लिका के प्रति भी ईमानदार था और शोभा के प्रति भी।" विनीत ने रुककर केतकी को देखा, "अब यह तुम्हारे दर्शनशास्त्रीय शोध का काम है कि वह जांच करे कि क्या एक व्यक्ति जीवन में एक से अधिक प्रेम कर सकता है ? यदि वह एक से अधिक बार प्रेम करता है तो क्या वह बेईमानी कर रहा है ? क्या उसके ऐसे प्रेम को प्रेम माना जाएगा, जिसके छूट जाने के बाद उसे टीस तक नहीं होती ?"

"एक समय में एक ही डोंगा ले जाओगे या दोनों एक साथ ले जाओगे ?" केतकी ने मटर-पनीर की सब्जी डोंगे में डालते हुए पूछा।

"तुमने तो प्रेम के प्रश्न और सब्जी के डोंगे को एक कर दिया।" विनीत परिहासपूर्वक खीझा, "तुम कभी दार्शनिक नहीं हो सकतीं ?"

"यहां दार्शनिक होने का दावा ही किसे है।" केतकी बोली, "किसी काम का अभिनय करना था, वह कर रही हूं। नहीं तो कहां कैनेडा और कहां दर्शनशास्त्र ! वे बेचारे न प्रेम-तत्त्व को समझें, न दर्शनशास्त्र को।"

विनीत को लगा, बात गंभीर हो गई है।

केतकी ने दूसरे डोंगे में उड़द की सूखी दाल डाल दी और बोली, "एक समय में एक ही डोंगा ले जाओ। मैं यह मानूंगी कि जिस समय तुमने वह डोंगा पकड़ रखा है, तुम उसके प्रति ईमानदार हो। तुम्हारे दोनों हाथ उसी में व्यस्त हैं। तुम्हारी आंखें देख रही हैं कि उसमें से सब्ज़ी छलक न जाए। तुम्हारा मन कामना कर रहा है कि पूर्ण सुरक्षा से वह अपनी यात्रा पूरी करे। चलते हुए भी तुम्हारा शरीर और मन सतर्क हैं कि तुम्हें कोई धक्का न लगे और डोंगा न गिरे। इसे मैं डोंगे के प्रति तुम्हारी ईमानदारी ही मानती हूं।" केतकी ने उसे डोंगा उठाने का संकेत किया, "और जब डोंगा ले जाकर मेज़ पर रख दिया तो तुम्हारे हाथ, नयन, मन, चाल, सब उससे मुक्त हो गए। अब डोंगे को तुम्हारी आवश्यकता नहीं है। तुम्हारा उसके विषय में सोचना मूर्खता है। अब वह डोंगा तुम्हें नहीं उठाना है। पर, तुम्हारे हाथ खाली हैं। तुम्हारे मन में श्रम की इच्छा है। एक और डोंगा उठाए जाने की प्रतीक्षा कर रहा है। तुम उसे उठा लेते हो और उसके प्रति ईमानदार हो जाते हो।" उसने रुककर विनीत को देखा और डांटकर बोली, "अब उठाओगे भी या भाषण ही सुनते रहोगे।...मुझे भूख लगी है बाबा!"

"दो रोटी का सवाल है बाबा!" विनीत होंठों में बुदबुदाया और उसने डोंगा उठा लिया।

विनीत सारा सामान उठाकर डायनिंग टेबल पर ले आया तो केतकी रोटियों वाला कटोरदान लेकर उसके पीछे-पीछे आ गई।

दोनों ने अपनी प्लेटों में खाना परोसा। केतकी ने पहला कौर मुंह में डाला ही था कि विनीत बोला, "तुम्हारा डोंगे वाला दर्शन व्यक्ति पर भी पूरी तरह लागू होता है क्या?"

"मेरे विचार से तो होता है।" वह बोली, "एक पुरुष एक स्त्री से प्रेम करता है। वह उसे पाना चाहता है। उसकी एकनिष्ठा में कहीं कोई कमी नहीं है। अब, संयोग से स्त्री की मृत्यु हो जाती है। वह स्त्री अब है ही नहीं। कभी लौटकर संसार में आ नहीं सकती। उस पुरुष को वह स्त्री मिल नहीं सकती। तब पुरुष क्या करे? क्या उस मृत स्त्री के नाम

पर रो-रोकर जान दे दे ?" केतकी ने रुककर दो घूंट पानी पिया, "यदि वह पुरुष ऐसा करता है तो वह मूर्ख है, अव्यावहारिक है, दीवाना है। There is a law of second preference. व्यक्ति को जीवन में एक चीज़ नहीं मिलती तो वह दूसरी ले ले। उस पुरुष को समाज, धर्म और देश के नियमों के अनुसार एक प्रेमिका या एक पत्नी का पूर्ण कानूनी और नैतिक अधिकार प्राप्त है। यदि वह इस अधिकार का उपयोग नहीं करता, अपने second preference को नहीं चुनता और अपने अभाव में स्वयं को घुला-घुलाकर मार डालता है तो वह एक मूल्यवान जीवन नष्ट करने का अपराधी है। प्रकृति ने उसे मनुष्य की क्षमताओं के साथ भरा-पूरा एक जीवन दिया है। परिवार, समाज और देश ने उसके पालन-पोषण और शिक्षण का प्रबंध किया है। उस पर धन, समय और एनर्जी···क्या कहते हैं, ऊर्जा का व्यय हुआ है। उसके जीवन और उसकी क्षमताओं पर परिवार, देश और समाज का अधिकार है। वह अपने-आपको नष्ट करके अपने परिवार, देश और समाज को वंचित कर रहा है। He is being ungrateful and undutiful. यह अनैतिक है, अपराध है, पाप है।"

"और यदि वह स्त्री मरती नहीं है।" विनीत बोला, "वह जीवित है। उसका कहीं अन्यत्र विवाह हो जाता है। तब ?"

"ईमानदारी का तो तकाज़ा है कि पुरुष तब भी उसे अनस्तित्व मानकर, दूसरी स्त्री से प्रेम करे।" केतकी बोली, "क्योंकि यदि वह दूसरा प्रेम नहीं करता तो इसका अर्थ है कि वह अब भी उस स्त्री से प्रेम करता है, जो किसी दूसरे पुरुष की पत्नी है। यह मानसिक व्यभिचार है। वह यह प्रतीक्षा कर रहा है कि या तो उस स्त्री का पति मर जाए या फिर उनका डिवोर्स हो जाए और वह स्त्री उसे आ मिले। यह तो एक सुखी दंपति के जीवन को उजाड़ने का प्रयत्न है। This is not fair."

"तुम्हें सुदर्शना की याद है केतकी ?" सहसा विनीत ने पूछा।

"वह हमारी बी० ए० की क्लासमेट; जिसकी प्रो० मेहता से लव अफेयर थी ?"

"हां। वही।" विनीत बोला, "उसके केस में क्या कहती हो ? उसके केस को किस कोटि में रखोगी ?"

"उसका पूरा केस मुझे मालूम नहीं है।" केतकी बोली, "इतना ही सुना था कि उसकी अफेयर प्रो० मेहता से चल रही थी। वह उनकी क्लास में सफेद साड़ी पहनकर सबसे आगे बैठा करती थी।"

"उसका केस मैं बताता हूं तुम्हें।" विनीत बोला, "प्रो० मेहता की पहले किसी और लड़की से अफेयर थी, पर उनका परिवार उस लड़की को अंगीकार करने को तैयार नहीं था। वह बात कुछ ठंडी-सी पड़ चली थी। शायद प्रो० मेहता उस लड़की को भुलाने का प्रयत्न कर रहे थे कि सुदर्शना उनसे जा टकराई। धीरे-धीरे उनका मिलना-जुलना बढ़ा और स्थिति क्रमशः अफेयर तक पहुंच गई। अफेयर की तीव्रता के साथ-साथ प्रो० मेहता का द्वन्द्व भी बढ़ा। उनके परिवार वाले सुदर्शना को भी स्वीकार नहीं कर रहे थे। उनके लिए दोनों लड़कियां एक ही समान थीं। प्रो० मेहता की ईमानदारी उन्हें चैन नहीं लेने दे रही थी। वे किसे स्वीकार करें? और फिर अचानक सुना गया कि प्रो० मेहता ने अंततः अपनी पहली प्रेमिका के पक्ष में ही निर्णय लिया और उनका विवाह हो गया।··· तब सुदर्शना ने घोषणा कर दी कि वह अब आजीवन अविवाहित रहेगी। उसे प्रो० मेहता से ही विवाह करना था। वह नहीं हुआ, तो अब किसी से नहीं होगा।

"प्रो० मेहता का दाम्पत्य जीवन सुखी और पूर्णतः संतुष्ट था। उनके तीन बच्चे हुए। किंतु सुदर्शना टस से मस नहीं हुई। वह अपनी टेक पर अड़ी रही।···और तब किसी आकस्मिक दुर्घटना में श्रीमती मेहता का देहांत हो गया। सुना है कि उसके पश्चात् किसी समय प्रो० मेहता की ओर से सुदर्शना को एक संदेश भी भेजा गया कि सुदर्शना की इच्छा हो तो वे विवाह के लिए तैयार हैं। पर कहते हैं कि सुदर्शना ने उनका प्रस्ताव ठुकरा दिया। वह किसी अन्य स्त्री के बच्चे पालने के लिए उनकी पत्नी बनने को तैयार नहीं थी। उसने विवाह नहीं किया···आज तक वह अविवाहित ही है।···बताओ, यह किस कोटि का प्रेम है?"

केतकी तुरंत कुछ नहीं बोली। जैसे थोड़ी देर तक कुछ सोचती रही और फिर धीरे से बोली, "इस केस के सारे फैक्ट्स हमको मालूम नहीं हैं। पर जो कुछ हमने सुना है या जो फैक्ट्स हमारे पास हैं, यदि उन्हीं के

आधार पर निष्कर्ष निकालना हो, तो मुझे इसमें सुदर्शना का हठ ही दिखाई देता है, प्रेम नहीं। पहले तो प्रो॰ मेहता की पहली अफेयर का अंतिम निर्णय हुए बिना उसे उनकी ओर बढना नहीं चाहिए था। जब बढ़ गई और प्रो॰ मेहता का विवाह हो गया तो उसे अपना सत्याग्रह त्याग देना चाहिए था। और श्रीमती मेहता के देहांत तक यदि किसी कारण से, या संयोग से वह अविवाहित ही थी; और यदि सुदर्शना प्रो॰ मेहता से प्रेम करती थी तो उनके सुख के लिए उसे विवाह कर लेना चाहिए था। उसमें दोनों ही सुखी होते।"

"तुम इसे सुदर्शना का हठ क्यों कहती हो ? उसका स्वाभिमान क्यों नहीं ?" विनीत ने प्रश्न रखा।

"स्वाभिमान बहुत अच्छा गुण है। स्वाभिमान के बिना जीवन का कोई अर्थ ही नहीं है।" केतकी बोली, "किंतु स्वाभिमान कोई जड़ पदार्थ नहीं है। स्वाभिमान अंधा और बहरा नहीं होता। परिस्थितियां और दूसरे पक्ष की स्थिति तथा इंटेंशन—What do you call it—भावना या जो भी—सब कुछ देखकर स्वाभिमान को अपना कर्तव्य स्थिर करना चाहिए। प्रेम में सद्भावना होती है, विगलन होता है, ऐंठ नहीं।" केतकी हंसी, "वैसे Women's lib. वालों के संप्रदाय की दृष्टि से सुदर्शना का व्यवहार ठीक था।"

उसकी बात से विनीत जैसे कहीं दूर चला गया था। सहसा अपने भीतर से वह बाहर आया, "अच्छा ! तुमने कभी इस विषय में सोचा है कि एक हृदय क्या एक से अधिक बार प्रेम कर सकता है ?"

"हृदय तो प्रेम करता ही रहता है।" केतकी बोली, "वह कितने प्रकार के प्रेम एक साथ पालता है। तुम इस प्रकार सोचो विनीत !" उसने रुककर ठहरी दृष्टि से विनीत को देखा, "माता-पिता एक साथ अपने दस बच्चों से एक जैसा प्रेम करते हैं; किंतु ग्यारहवां आ जाए तो उससे भी उतना ही प्रेम करेंगे। प्रेम का लिमिटेड कोटा तो है नहीं।"

"नहीं। मैं नारी-पुरुष के प्रेम की बात कर रहा हूं। उसमें एकनिष्ठा की अपेक्षा भी होती है और ईर्ष्या का तत्त्व भी रहता है। संतान से प्रेम में एकनिष्ठा एकदम अपेक्षित नहीं है; उसमें ईर्ष्या के लिए भी स्थान नहीं है।

हम पड़ोसी के बच्चे से भी प्रेम करें तो हम अपने बच्चों के अधिकार का हनन नहीं कर रहे हैं। पर पड़ोसन से प्रेम करें तो पत्नी के अधिकार का हनन ही नहीं होता, उसके प्रति बेईमानी भी होती है।…"

"दूसरा प्रेम…"

पर विनीत ने केतकी की बात काट दी, "जब एक प्रेम की संभावना समाप्त हो जाए, तब दूसरे प्रेम की बात कर रहा हूं मैं।"

"समझ गई।" केतकी मुस्कराई, "मेरा ज्ञान यह कहता है कि प्रेम हृदय की सहज प्रक्रिया है। हृदय तो प्रेम करेगा ही। यदि एक प्रेम-पात्र छिन जाएगा, तो हृदय दूसरा पात्र खोजेगा, क्योंकि उसे तो सतत् प्रेम करना ही है। जैसे बच्चे को एक खिलौने से दूर हटा दिया जाए तो वह दूसरे खिलौने की ओर लपकेगा ही। बच्चे के ही समान हृदय में विवेक और स्वाभिमान नहीं होता; उसमें अहंकार भी नहीं होता। ये सब मस्तिष्क के दुर्गुण हैं। हृदय तो तड़पता ही रहता है, किसी के लिए भी तड़पे। This is physiology."

"दूसरा प्रेम भी उतना ही सच्चा होगा, जितना सच्चा पहला प्रेम होता है ?"

"एकदम खालिस। कई बार पहले से भी अधिक सच्चा।" केतकी रुककर बोली, "पर एक केस मुझे याद आ रहा है—संध्या का। तुम्हें याद है संध्या ? तुम्हारी तो बड़ी सहेली थी।"

"थी।" विनीत ने स्वीकार किया।

"उसके मंगेतर ने कहीं और विवाह कर लिया तो उसने सारा जीवन विवाह ही नहीं किया। Do you call it love ?"

"संध्या को तुम खूब जानती हो।" विनीत बोला, "पर शायद उसकी बाध्यता की ओर तुम्हारा कभी ध्यान नहीं गया।"

"क्या थी बाध्यता ?" केतकी बोली, "उसके प्रति तुम्हारी सिंपेथी तब भी बहुत मशहूर थी।"

"मुझे अब भी उससे बहुत सहानुभूति है। तब भी थी।" विनीत बोला, "मैं यह मानता हूं कि उसके परिवार ने अपनी आर्थिक असमर्थता के कारण कभी गंभीरता से चाहा ही नहीं कि उसका विवाह कहीं हो

जाए। उन्हें भय था कि उसका विवाह होते ही उसका वेतन उनसे छिन जाएगा। और वह लड़की इतनी निरीह, असहाय और गुप-चुप थी कि उसका हृदय धड़कता भी होगा तो उसके अपने कानों को भी सुनाई नहीं पड़ता होगा।" विनीत ने केतकी की ओर देखा, "Physiology के अपने ज्ञान में यह सूचना बढ़ा लो कि कई हृदय धड़कते तो रहते हैं, पर उनकी धड़कन बोलती नहीं।"

सहसा केतकी इस सारी बातचीत में से उखड़ गई, "तुम मुझे इधर-उधर क्यों बहका रहे हो ? अपनी बात क्यों नहीं कहते ? क्या तुम मल्लिका से प्रेम करते थे ?"

"मेरी प्रीति-कथा का तो उपन्यास चल रहा है।" विनीत के होंठों पर बहुत शांत मुस्कान थी, "उपन्यास पूरा किए बिना उस पर चर्चा करना पाप है।"

"यह कौन-सा पाप है ?" केतकी ने हाथ झटककर पूछा।

"साहित्यशास्त्र का पाप।" विनीत उठकर खड़ा हो गया, "तुम हाथ धोकर कमरे में चलो। मैं मेज़ समेटकर आता हूं।"

केतकी हंसी, "परंपरागत वाक्य है, 'आप चलकर आराम कीजिए; मैं चौका समेटकर आती हूं।' "

"पर अब परंपराएं बदल रही हैं न !"

"मैं ही कौन बहुत परंपरावादी हूं।" केतकी बोली, "पर इतना बोझ तुम अकेले बेचारे लेखक पर नहीं छोड़ूंगी। चलो, मिलकर समेट लेते हैं।"

चीज़ें समेटकर वे लोग बेडरूम में आए।

"आराम करोगी ?" विनीत ने पूछा।

"आराम तो करूंगी, पर सोऊंगी नहीं।" केतकी बोली, "दिन के समय सोने की आदत अब नहीं रही।"

"सोओगी नहीं तो आराम कैसे करोगी ?" विनीत ने पूछा, "आराम करने की कोई और भी अवधारणा है तुम्हारे मन में—Concepts of relaxation ?"

"अच्छा ! अब तुम मेरे शोध के विषय का भी मजाक उड़ाने लगे !" केतकी बनावटी विरोध के साथ बोली, "सोचा था, इतने दिनों के बाद तुमसे भेंट हुई है। कुछ गपशप करेंगे, रिलैक्स करेंगे; और तुमने सारी बातचीत को मेरे शोध-प्रबंध से जोड़ दिया। ऐसा लग ही नहीं रहा कि तुमसे बातचीत कर रही हूं। लग रहा है, जैसे मैं अपने शोध-प्रबंध के चैप्टर्स तैयार कर रही हूं।"

"स्ट्रेन पड़ रहा होगा ?"

"तुमसे बात करना तो स्ट्रेन ही है।" केतकी हंसी और पलंग पर तकिए की टेक लेकर आराम से बैठती हुई बोली, "चलो, शुरू करो अपना उपन्यास।"

विनीत अपने अभ्यासवश ही साथ वाले पलंग पर आ बैठा। यह संयोग ही था कि केतकी शोभा के पलंग पर अधलेटी बैठी थी और विनीत अपने पलंग पर दीवार से टेक लगाकर बैठा था। विनीत इस बात को अपने मन से निकाल नहीं पा रहा था कि घर में तीसरा व्यक्ति कोई नहीं है और वे लोग बेडरूम में इतने निकट हैं।

पर केतकी का जैसे इस ओर ध्यान ही नहीं था, या वह जानबूझकर इसे अनदेखा कर रही थी।

"उपन्यास भई उपन्यास।" वह बोली।

"हां। उपन्यास।" विनीत ने कहा।

लंच-ब्रेक के समय मुझे चंदा से बात करने का अवसर मिला।

"मल्लिका को क्या हुआ है ?"

"सब तुम्हारा ही किया-धरा है।" वह बोली, "करते हो तुम और भुगत रही है वह बेचारी।"

"क्या किया है मैंने ?" मैं परेशान था।

"लड़कियों ने उससे कहा है कि मल्लिका विनीत को अच्छी लगती है।"

"अरे यही तो कहा कि अच्छी लगती है। रोने की आवश्यकता तो तब थी, जब बुरी लगती हो।"

"बको मत!" उसने मुझे डांट दिया, "मुझे भी तुम्हारी नीयत ठीक नहीं लग रही।"

मैं खड़ा रह गया और चंदा चली गई।

तो यह बात थी। किसी ने उसे कह दिया कि वह मुझे अच्छी लगती है तो उसके कोमल हृदय को चोट लग गई, चरित्र लांछित हो गया, बदनामी का भय पीछे लग गया···क्या हुआ है उसे। यदि मेरा कोई मित्र या परिचित मुझे कहता···या···उस दिन त्रिपाठी ने कहा तो था कि मल्लिका रीझ-रीझकर मुझे देख रही थी।···तो मेरे कानों में तो जैसे किसी ने रस की बूंदें ही टपका दी थीं।···उसे भी किसी ने कह दिया था कि वह मुझे अच्छी लगती है, तो उसे प्रसन्न होना चाहिए था। भला इसमें रो-रोकर तमाशा बनाने की क्या बात थी···

पर शायद हो। उसके लिए यह रोने की ही बात हो। वह लड़की है। उसके लिए यह बात भी परेशानी का कारण हो सकती है कि किसी लड़के को वह अच्छी लगती है। और लड़का भी कौन? मेरे जैसा। बाहर से आया हुआ। होस्टल में रहने वाला। अज्ञात कुल-शील···

जितना मैं सोचता गया, उतना ही भावों के एक विचित्र मिश्रण को अपने भीतर ही भीतर गुब्बारे के समान फुलाता चला गया। मुझे पता ही नहीं चला कि मैं कितना खीझा हुआ हूं। खीझ किसके प्रति है, यह भी स्पष्ट नहीं था। उन अनजानी लड़कियों से नाराज़ था, जिन्होंने मल्लिका को रुलाया था, या मल्लिका से नाराज़ था, जो उनकी बात पर रो पड़ी थी, या अपने-आप से नाराज़ था, जिसके कारण मल्लिका को रोना पड़ा था।···और सबसे विचित्र बात यह थी कि मैं समझ नहीं पा रहा था कि मेरे मन में रोती हुई मल्लिका के लिए करुणा अधिक थी, या उसके इस प्रकार रो पड़ने के लिए नाराज़गी अधिक थी···

वैसे स्त्रियों की ऐसी रुदनशीलता मुझे कभी भी अच्छी नहीं लगी थी।

जब-जब ऐसे अवसर आए, मुझे सदा यही लगा कि यह रोना जैसे मुझ पर एक ऐसा आरोप है, जिसकी कहीं सुनवाई नहीं है।

छुट्टी हुई तो संयोग से सीढ़ियों में नीचे उतरती हुई चंदा और मल्लिका मुझे अकेली दिखाई पड़ गईं। जाने मुझे क्या हुआ कि मेरे भीतर का गुब्बारा सहसा ही बहुत फूल गया। मैं तेज़-तेज़ कदमों से चलता हुआ उनके पास पहुंचा।

"मल्लिका !" मैंने बहुत धीरे से पुकारा।

उसने अपनी सूजी हुई आंखों से मुझे देखा।

मेरे भीतर का गुब्बारा तना और अचानक फूट पड़ा, "माफ करना, मेरे कारण तुम्हें परेशानी हुई। यदि तुम्हारी परेशानी का कारण मैं हूं, तो मैं अब तुमसे बात भी नहीं करूंगा।"

मैंने उसका उत्तर भी नहीं सुना और खट्-खट् सीढ़ियां उतरता हुआ अपने होस्टल की ओर चला गया।

"Very unfair on your part." केतकी बोली, "तुम सदा ऐसे ही रहे। भड़कने में तुम्हारा भी कोई जवाब नहीं है।"

दो-चार दिन ऐसे ही बीत गए। न वह बात करने के लिए आई और न ही मैं उसकी ओर बढ़ा। मैं नहीं जानता कि वह इससे प्रसन्न थी या नहीं; पर मैं रत्ती-भर भी प्रसन्न नहीं था। हर समय मन में एक परेशानी, एक बेचैनी-सी घिरी रहती थी। सिर इतना भारी रहता था कि किसी काम में मन ही न लगता। शरीर में जैसे ऊर्जा ही नहीं रह गई थी।

कक्षा में पहुंचता तो अनायास ही दृष्टि मल्लिका को ढूंढ़ती, जैसे उसे देख पाऊं तो जाने क्या पा जाऊंगा। जब तक उसे देख नहीं लेता था, तब तक लगता था कि सारी समस्याओं का समाधान वही है। और जैसे ही उस पर दृष्टि पड़ती, वैसे ही जैसे मेरे भीतर खीझ का सहस्रफन शेषनाग जाग उठता। लगता था, अभी किसी से लड़ पड़ूंगा। या तो किसी को पीट

दूंगा या फिर अपना सिर फोड़ लूंगा···

वैसे यह सब मेरे बस का था नहीं। ज़्यादा से ज़्यादा झल्लाकर किसी पर बरस पड़ सकता था। किसी को भला-बुरा कह सकता था। किसी पर अपना आक्रोश निकाल सकता था।···

और कुछ नहीं सूझा तो कुछ लड़कों के साथ सिगरेट पीने बैठ गया। बड़े फिल्मी अंदाज़ में धुआं उड़ाता रहा, कि शायद इसके साथ ही मन की खीझ निकल जाए।···वहीं कहीं चंदा ने मुझे देख लिया। उसने बड़ी बहन के अधिकार से मुझे डांटा, "इन लड़कों के साथ मत बैठो। यह संगति ठीक नहीं है तुम्हारे लिए।"

"क्यों? क्या हुआ है इस संगति को?" मैंने कुछ खीझकर कहा, "आखिर मेरे सहपाठी हैं। मेरे ही जैसे लड़के हैं।"

"तुम्हारे जैसे लड़के नहीं हैं।" चंदा बोली, "तुम संस्कारी परिवार के लड़के हो। पढ़ने आए हो। तुम्हें यूनिवर्सिटी में टाप करना है। अपना भविष्य बनाना है। उनके साथ रहोगे तो सारा भविष्य चौपट हो जाएगा।"

"तुम्हें कैसे मालूम है कि वे संस्कारी घरों के लड़के नहीं हैं?" मैं कुछ और खीझकर बोला।

"मैं जानती हूं उन्हें।" चंदा बहुत आत्मविश्वास के साथ बोली, "शराब की बोतल देखें तो मुंह से लार टपका-टपकाकर अपनी कमीज़ भिगो लें। सारा समय बैठकर लड़कियों को अपनी आंखों से निगलते रहना काम है उनका। पढ़ाई तो ढोंग है या घर से भागने का बहाना···।"

मैं नहीं जानता था कि ऐसा कुछ है या नहीं। हां! इतना तो पता मुझे भी था कि उस सारे ग्रुप में प्रथम श्रेणी का विद्यार्थी एक भी नहीं था। वे लोग जैसे-तैसे एम० ए० में आए थे और जैसे-तैसे ही एम० ए० कर जाएंगे। पाठ्यक्रम और कक्षा की पढ़ाई से अधिक महत्त्वपूर्ण उनकी अपनी बहसें थीं, अपने शौक़ थे···

पर अपनी खीझ से परेशान मैं किसी की बात सुनने को तैयार नहीं था। वैसे भी जब से मल्लिका से संपर्क बढ़ा था, चंदा का महत्त्व मेरे लिए सामान्य हो गया था। इधर तो उसके प्रति मन में जैसे मैं विरोध-सा पाल रहा था···उसने मल्लिका से मेरे मेल-मिलाप के लिए तनिक भी प्रयत्न

नहीं किया था···

"इतनी समझ मुझे भी है।" मैंने उसे उत्तर दिया, "कि मैं अपने साथियों का चुनाव कर सकूं। बच्चा नहीं हूं मैं।"

चंदा ने आहत दृष्टि से मुझे देखा, "जानती हूं, अब तुम जवान हो गए हो। पर जवानी पागलपन का नाम नहीं है।"

फिर न चंदा ने कुछ कहा, न मैंने। अपनी ओर से तो मुझे कहना ही क्या था। अपने व्यवहार से जिस प्रकार मैंने चंदा को आहत किया था, उसके पश्चात् वह भी मुझे क्या कहती, क्या समझाती !

त्रिपाठी ने अवश्य मुझसे कहा, "बड़े उखड़े-उखड़े नजर आते हो। मल्लिका से झगड़ा हो गया है क्या ?"

"हां। कुछ हुआ तो है। पर ऐसा कोई खास भी नहीं।" विचित्र स्थिति थी मेरी। न उसे बता सकता था, न छिपा सकता था।

"प्रेमिका से झगड़ा करना आसान नहीं है मित्र !" वह कोमल स्वर में बोला, "अपनी प्रेमिका से रूठकर जैसे व्यक्ति अपने-आपसे रूठ जाता है, अपने जीवन से रूठ जाता है। प्रेमिका से रूठा हुआ प्रेमी तो अभिशप्त होता है। उसके लिए जीवन के हर सुख पर शाप कुंडली मारकर बैठ जाता है। उसका कोई विकल्प नहीं है। चुपचाप प्रेमिका को मना लो। वह कहे तो उसके चरणों पर अपना सिर रख दो।"

उसकी बात की सच्चाई में मुझे तनिक भी संदेह नहीं था; किंतु उसका समाधान मुझे स्वीकार नहीं था। इसलिए मैं कुछ नहीं बोला।

पर उसने अपना धैर्य नहीं छोड़ा, "सीधे उससे बात करने में संकोच होता हो तो पत्र लिख दो। ममता से कहूंगा, पहुंचा आएगी।"

"नहीं।" मैंने कहा, "अभी जरूरत नहीं है।"

वर्ष समाप्त हो गया और यूनिवर्सिटी में गर्मी की छुट्टियां हो गईं। चंदा ने बताया कि इन छुट्टियों में ही उसका विवाह हो जाएगा और वह दिल्ली छोड़ देगी, साथ ही पढ़ाई भी। उसका ससुराल बड़ौदा में है और पति जयपुर में। वह उन्हीं दोनों नगरों में रहेगी। उसने विवाह के अवसर पर आने के लिए कहा और निमंत्रण-पत्र डाक से भिजवाने की बात कही। पत्र लिखने का भी वचन दिया।···पर मल्लिका की बात न उसने छेड़ी

और न मैंने ही कुछ पूछा।

छुट्टियां हो गईं और मैं जमशेदपुर आ गया। मल्लिका से कोई संपर्क ही नहीं हो सका। चंदा ने अपने वचनानुसार पत्र भी लिखा और निमंत्रण-पत्र भी भेजा। उसने बहुत आग्रहपूर्वक अपने विवाह में सम्मिलित होने के लिए बुलाया था। पर उसके विवाह के उस सारे समारोह-संसार में मल्लिका के लिए एक शब्द भी नहीं था। और मैं था कि मल्लिका को याद कर-करके 'आंसू' का पारायण करता रहता था…

इस करुणा कलित हृदय में
अब विकल रागिनी बजती
क्यों हाहाकार स्वरों में
वेदना असीम गरजती

वाडव ज्वाला सोती थी
इस प्रणय-सिंधु के तल में
प्यासी मछली-सी आंखें
थीं विकल रूप के जल में

इस विकल वेदना के ले
किसने सुख को ललकारा
वह एक अवोध अकिंचन
वेसुध चैतन्य हमारा

मादक थी, मोहमयी थी
मन वहलाने की क्रीड़ा
अव हृदय हिला देती है
वह मधुर प्रेम की पीड़ा।

पर मल्लिका ऐसी खोई कि जैसे वह कभी थी ही नहीं।

वेसुध जो अपने सुख से
जिनकी हैं सुप्त व्यथाएं

अवकाश भला है किनको
सुनने को करुण कथाएं।…

उस पीड़ा में भी अपने शोध-निबंध को जैसे-तैसे मैंने लिखा, यानी उसका पहला प्रारूप तैयार किया। वह भी कैसे हो गया, पता नहीं। घर पर भी खीझा बैठा रहता था। न किसी से बात, न चीत। न किसी से मिलना, न जुलना। जब कोई शिकायत करता तो कह देता कि मैं पढ़ रहा हूं। मुझे कोई छेड़े नहीं।

"उन दिनों तुम हम लोगों से भी बड़ी बेरुखी से पेश आए थे।" केतकी बोली, "हमें आज भी याद है। हम लोग यही कहते थे कि इस लड़के को दिल्ली की हवा लग गई है।"

"अरे तुम लोगों से क्या बेरुखी दिखाई होगी मैंने।" विनीत बोला, "घर वालों को तो मैं जैसे खाने को पड़ता था। लगता था, इन्हीं लोगों के बार-बार बुलाने पर मैं छुट्टियों में जमशेदपुर चला आया। दिल्ली से इतनी दूर कि किसी प्रकार मल्लिका का समाचार तो समाचार, उसका नाम तक सुनने को तरस गया था। दिल्ली में रहता तो जैसे भी होता, जिस प्रकार भी होता, जिस किसी के भी माध्यम से होता, पर मैं उसकी कुछ खोज-खबर तो लेता। संभव है, किसी प्रकार उससे मिल भी पाता। पर यहां से क्या हो सकता था…

"घर में मुझे किसी में कोई रुचि नहीं रह गई लगती थी। विचित्र स्थिति थी। जो लोग मेरा इतना ध्यान रख रहे थे, जो इतने आग्रह से मेरा इतना सत्कार कर रहे थे, उनसे मैं इतना चिढ़ा बैठा था; और जिसने छुट्टियों से पहले एक बार मिलने तक का भी प्रयत्न नहीं किया, उसके लिए प्राण ऐसे तड़प रहे थे, जैसे मेरे लिए वही आक्सीजन हो।"

"फिर छुट्टियों के बाद तुम दिल्ली लौटे…"

छुट्टियां बीतीं और मैंने चैन की सांस ली। सोचा था, दिल्ली पहुंचने

की ही तो देर है। दिल्ली पहुंचकर मल्लिका से मिलूंगा और सब ठीक हो जाएगा। मेरा मन सहज-स्वाभाविक हो जाएगा और मैं ठीक से अपनी पढ़ाई कर सकूंगा।

विश्वविद्यालय खुलने से दो-तीन दिन पहले ही मैं दिल्ली पहुंच गया था। पर उससे कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। मुझे तो यह भी मालूम नहीं था कि मल्लिका दिल्ली में ही है या कहीं बाहर गई हुई है। और यदि दिल्ली में है भी तो कहां है। मुझे उसके घर का भी पता नहीं था। बस, इतना ही मालूम था कि दरियागंज में कहीं रहती है। पर यदि उसका घर मालूम भी होता, तो क्या मैं उसके घर चला जाता ?

यूनिवर्सिटी खुली तो कक्षा में उसे देखा। ढाई महीनों से अवरुद्ध धारा जैसे बांध तोड़कर बह जाने को आतुर हो उठी। मन में आया, सीधे उसके पास पहुंचूं। उसके पास वाले डेस्क पर अपनी फाइल पटकूं और उसके पास बैठ जाऊं।···मेरी हालत वैसी ही हो रही थी, जैसे बहुत देर से प्यासे किसी मनुष्य की पानी देखकर होती है। अपनी उत्कंठा की तीव्रता का अहसास मुझे पहले भी था, किंतु वास्तविक उत्कंठा तो उसे सामने देखकर ही प्रकट हुई।

शायद मैं वैसा ही कुछ कर भी गुज़रता···उसके साथ वाली सीट पर कोई बैठा होता, तो उसे उठाने या सरकाने के प्रयत्न से भी पीछे नहीं रहता···पर तभी याद आ गया···उससे बात न करने का संकल्प मेरा था। मैं उससे रूठा हुआ था···मुझे ही जाकर बात करनी होती, तो मैं छुट्टियों से पहले भी उसके पास जा सकता था। छुट्टियों में उसे पत्र भी लिख सकता था···पर यह सब मैंने इसलिए तो नहीं किया था कि उसने मुझे रोक रखा था। यह तो मेरा अपना हठ था, या कहूं कि मेरा मान था···

मेरे मस्तिष्क में ऊपर-ऊपर तक चढ़ी हुई झाग जैसे नीचे बैठ गई। और उस उत्तेजना की ढलान उतरते हुए मेरा मन खीझ की पगडंडी पर चल पड़ा। आखिर वह मेरी स्थिति समझती क्यों नहीं ? एक बार मुझे हल्के से पुकार लेगी या हंसकर मेरी ओर देख लेगी तो उसका क्या बिगड़ जाएगा ?···मुझे देखते ही ऐसे सिर लटकाकर बैठ जाती है, जैसे किसी का

शोक मना रही हो···

उस दिन मुझे चंदा की भी बहुत याद आई। सोचा, वह होती तो अवश्य मेरे लिए कुछ करती।

मुझे लगा कि मल्लिका के लिए मेरा सारा आकर्षण जैसे विषाक्त हो गया है। उसी ने तो स्वयं पहले इतनी उन्मुक्त और मुखर होकर मुझे अपनी ओर खींचा और अब जब उसके आकर्षण-जाल में कसा जाकर मेरा पोर-पोर पीड़ा के मारे कराह रहा है तो वह अपने-आप में ऐसी गुम होकर बैठ गई है कि जैसे मेरा कोई अस्तित्व ही नहीं है। यह तो खेला-खेलाकर मारना हुआ···लग रहा था, अब तक का पढ़ा हुआ सारा विप्रलंब श्रृंगार जैसे मेरे ही मन का मंथन था···क्या कमल का फूल इसीलिए खिलता है कि भंवरा उस पर बैठे और वह फिर से इस प्रकार बंद हो जाए कि भंवरे का दम ही घुट जाए···

उस रोज़ जब मैं होस्टल लौटा तो जैसे मेरा तेज अपनी पराकाष्ठा पर था। मैंने कई संकल्प एक साथ कर लिए थे, कई व्रत ले लिए थे।···भाड़ में जाए यह सब। मुझे अब पढ़ना है। केवल पढ़ाई। एम० ए० फाइनल की परीक्षा में पूरे विश्वविद्यालय में प्रथम आना है। 1965 में एम० ए०, 1967 में पी-एच० डी०, 1969 में डी० लिट्०। ऐसे ही लैक्चरर, फिर रीडर, फिर प्रोफेसर। कोई प्रेम नहीं, किसी से कोई लगाव नहीं, जीवन में कहीं कोई कोमलता नहीं। बस, पढ़ाई और लिखाई। मुझे इतना बड़ा आदमी बनना है कि मेरी उपेक्षा करने वालों को अपने बौनेपन की पीड़ा खा जाए। वे रो-रोकर तड़पें···मेरी महत्त्वाकांक्षा का अगस्त्य अवसाद का सारा सागर पी जाएगा···

"ओह-हो! रत्नावली की उपेक्षा ने तुलसी को महात्मा भी बना दिया, भक्त भी और कवि भी।" केतकी मुस्करा रही थी।

"तब लगा तो यही था।" विनीत ने स्वीकार किया, "सोचा था, जीवन में कभी किसी लड़की ने पदार्पण किया, कोई मेरी ओर बढ़ी तो साफ कह दूंगा, 'देवि! इस चट्टानी और बयाबान जीवन में कहीं कोमलता

नहीं है। तुम गलत दिशा में बढ़ रही हो। जाओ! लौट जाओ। पाषाणों पर सिर पटकने से निर्मल जल की धाराएं नहीं फूटा करतीं।'…"

"डायलाग तो अच्छे सोच रखे थे।" केतकी हंस रही थी।

"इतना ही नहीं।" विनीत भी मुस्कराया, "यह भी सोच लिया था कि यदि विवाह का प्रस्ताव लेकर किसी कन्या का पिता आया, तो उसे भी यही उत्तर दूंगा, 'अपनी बेटी के लिए आप कोई ढंग का लड़का ढूंढ़िए। जाइए। मुझ जैसा वहशी आदमी किसी भी लड़की को प्रसन्न नहीं रख सकेगा।' "

"कब तक निभा यह व्रत?" केतकी की मुस्कान पूछ कम रही थी, बता अधिक रही थी।

संकल्प कर तो लिए थे, पर शाम तक ऐसी उदासी छाई कि सारे संकल्प जैसे उसी ने चूर-चूर कर दिए। कहीं जाने की इच्छा नहीं थी। किसी पुस्तक में मन नहीं लग रहा था। नींद भी कोई खास नहीं आ रही थी।…पर अगले दिन से अपने डिसर्टेशन को सुधारने, उसके छूटे हुए अंशों को पूरा करने और उसे टाइप के लिए तैयार कर देने का दृढ़ निर्णय किया।

किंतु हुआ कुछ भी नहीं। अगला ही नहीं, अगले कितने ही दिन हैस-बैस में ही निकल गए।…

उस दिन शायद शुक्रवार था। अंत का एक-आध पीरियड नहीं लगा था। मूड बहुत ही खराब था। मन था कि जंगली सूअर के समान सिर झुकाकर होस्टल की ओर भागा जा रहा था। कहीं और जाने का एकदम मन नहीं था। पर मैं जानता था कि यदि मैं एक बार होस्टल पहुंच गया तो वहीं ढेर हो जाऊंगा। फिर न पढ़ाई होगी और न दरियागंज जाने का उत्साह जुटा पाऊंगा। 'हंस' का विशेषांक फिर रह जाएगा और मेरे डिस-र्टेशन का चौथा अध्याय फिर अधूरा रह जाएगा।…

मन मेरा था कि ढेर हुआ जा रहा था और विवेक उस पर अनवरत कोड़े फटकार रहा था…'तू देवदास है क्या? सिर डाले ऐसे पड़ा है, जैसे

मुर्गा हलाल कर दिया गया हो। क्या हो गया है तुझे? एक लड़की से बातचीत नहीं हो सकी तो दुनिया वीरान हो गई। सारा संसार उसी एक मल्लिका के साथ दो-चार हल्की-फुल्की बातों में सिमट गया है क्या? बातचीत नहीं हुई तो तेरा जन्म,और जीवन निरर्थक हो गया क्या? तू यहां प्रेम करने आया है या पढ़ाई करने?···क्या-क्या सोचकर आया था—एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्। लैक्चररशिप, रीडरशिप, प्रोफेसरशिप। फिर दुनिया-जहान का पढ़ना-लिखना। टाल्स्टाय के बराबर का, या उससे भी बड़ा उपन्यासकार और विवेकानन्द से भी गंभीर चिंतक बनने के सपनों का क्या हुआ?'

विवेक की मार इतनी तीखी थी कि मन कितना ही हताश रहा हो, पर पैर होस्टल की ओर न जाकर बस-स्टाप की ओर चल पड़े—एकदम शहीदी अंदाज में। ठीक है, जब ऐसे ही जीना है, तो ऐसे ही सही। काम तो करना ही पड़ेगा, करूंगा।···प्रेम की असफलता पर मैं क्यों रोऊं! एक दिन आएगा, जब मल्लिका मुझे याद करेगी और रोएगी; कभी तो समझेगी कि उसने अपने जीवन में क्या खो दिया···

इक्कीस नंबर की यूनिवर्सिटी स्पेशल, मौरिस नगर पर तैयार खड़ी थी। अभी पूरी तरह भरी नहीं थी। मैं एकदम आगे की सीट पर चला गया, ड्राइवर के एकदम पास।···मुझे किसी और से क्या लेना था। अब तो अपने काम से काम था।···खाली सीट पर आराम से बैठ गया।···

लड़के और लड़कियों का एक रेला आया और बस एकदम भर गई। न चाहते हुए भी मैंने दृष्टि पीछे घुमाई तो देखा, मल्लिका दरवाज़े के पास ही खड़ी है। वह शायद अभी-अभी बस में चढ़ी थी। वह भी तो दरियागंज में ही रहती थी। हो सकता है कि रोज़ इसी बस में जाती हो—मन ने चिढ़कर मुझे फटकारा—'हां। रोज इसी बस में जाती है। यह मत समझना कि तुमको देखकर, तुम्हारे पीछे-पीछे इसी बस में आ गई है।'···

मन हुआ कि इशारे से उसे बुला लूं और अपनी सीट उसे दे दूं: बेचारी कैसे खड़ी है। एक हाथ में फाइल और ढेर सारी पुस्तकें हैं। वे संभाले नहीं संभल रहीं। उन्हें किसी प्रकार छाती से चिपकाए, एक हाथ

से सीट के पीछे का राड पकड़े, उस भीड़ में कैसी परेशान-सी खड़ी है। ऐसे तो किसी भी क्षण उसके हाथ से पुस्तकें छूटकर बिखर जाएंगी। या वह स्वयं ही धक्के-मुक्के में गिर पड़ेगी···

पर तुझे क्या ! उससे तेरी बोलचाल बंद है। अब उससे कोई संबंध नहीं तेरा। तूने अपनी शालीनता में उसे बुला भी लिया, तो क्या समझेगी वह ! समझेगी, तू भी त्रिपाठी के समान नाटक कर रहा है। तू जानता था कि वह इस बस में आएगी। इसलिए जान-बूझकर इस बस में आ चढ़ा है और बहाना बनाकर उससे बात करना चाह रहा है।···

मेरा मन जैसे और भी तन गया : मुझे और अपमानित नहीं होना है।

मैंने मुंह फेर लिया, जैसे उसे देखा ही न हो।

मल्लिका के इतने निकट होने का अहसास और सायास उसे अनदेखा करने की क्रिया—दोनों ही बातें मेरे लिए बहुत भारी पड़ रही थीं। ऐसे द्वन्द्व मुझे बहुत परेशान कर देते हैं। कान गर्म हो जाते हैं, होंठ सूखने लगते हैं और सिर जैसे भन्नाने लगता है। पर ऐसे में मेरा स्वाभिमान—या शायद अहंकार बहुत ही क्रूर हो उठता है। मन को जितना भी पीड़ित कर सकता है, करता है और क्रूरता के अनुपात में ही स्फीत होता जाता है।···मन जितना झुकता है, अहंकार उतना ही तनता चलता है···

'पर वह कष्ट में है।' मेरे मन ने प्रतिरोध किया, 'ऐसे में बेचारी यात्रा कैसे करेगी। दरियागंज क्या, वह तो माल रोड तक पहुंचते-पहुंचते बेहोश होकर गिर पड़ेगी।'

अहंकार भी चुप नहीं रहा, 'वह रोज़ इसी बस में, इसी प्रकार जाती है। उसकी रक्षा के लिए तुम साथ नहीं होते हो।···और फिर तुम अब दिल्ली आए हो। होस्टल में रहते हो और सड़क पार कर आर्ट्स फैकल्टी में पढ़ने चले जाते हो। दिल्ली की भीड़भरी बसों में यात्रा करने का अभ्यास तुमको नहीं है। वह तो यहीं जन्मी-पली है। शुरू से इसी प्रकार यात्रा करती रही है। हज़ारों लड़कियां ऐसे ही यात्रा करती हैं। उन्हें सीट देने के लिए कोई नहीं उठता यहां। वह ठीक-ठाक घर पहुंच जाएगी—रोज़ पहुंचती है। तुम चुप्पे बने बैठे रहो।'

मन पीड़ित हुआ। चुप हो भी गया; नहीं भी हुआ। वहुत दवी जुवान से फुसफुसाकर वोला; 'मैं नहीं होता तो और वात थी। पर मेरे होते हुए वह कष्ट पाए।'···

मन के भीतर उठा-पटक चलती रही और मैं जड़-सा अपनी सीट पर अकड़ा वैठा रहा। न मैं उठा, न उसे वुलाया।

वस चल पड़ी। अगला स्टाप हिंदू कालेज का था। वहां भी एक भीड़ वस में चढ़ने के लिए लपकी। मन मल्लिका के लिए कांप गया। देखा, वह आगे की ओर सरक रही है। मैं फिर उसे अनदेखा कर सीधा हो गया।

पर वह रास्ता वनाती हुई ठीक मेरे पास आ खड़ी हुई, "विनीत ! ये कितावें पकड़ लो ज़रा।"

इस एक छोटे-से वाक्य से मेरे भीतर क्या-क्या नहीं घट गया। जीवन की एक-एक सांस जैसे सार्थक हो गई। दीर्घ तपस्या के वाद जव भक्त के सम्मुख भगवान प्रकट होते होंगे तो भक्त को ऐसा ही लगता होगा।···

मेरा मान, स्वाभिमान, अहंकार—सव कुछ गलकर वह गया। उपालंभ, शिकायतें, विरोध—सव कुछ विलीन हो गया।

मैं उठ खड़ा हुआ, "तुम वैठ जाओ।"

"नहीं। वस तुम कितावें पकड़ लो।"

पर इस वार मेरा अहंकार नहीं जागा। मेरा प्यार जागा; और जागा मेरा अधिकार। मैंने पहली वार निस्संकोच उसकी वांह पकड़कर साधिकार उसे सीट पर वैठा दिया और अपनी फाइल भी उसे ही पकड़ा दी।

थोड़ी देर पहले तक मेरे मन में कितनी धूप थी। लू से सव कुछ झुलस रहा था। तपती हुई धूल शरीर को तप्त शलाकाओं के समान जला रही थी। उसका एक छोटा-सा वाक्य वदली की तरह वरस गया था। धूल वैठ गई थी। तपिश मिट गई थी। लू वयार में वदल गई थी। सव कुछ कैसा धुला-धुला और निखरा-निखरा-सा था···

"जहां मरु ज्वाला धधकती, चातकी कण को तरसती;
उन्हीं जीवन घाटियों की, मैं सरस वरसात रे मन !"

वह सीट पर बैठी थी और मैं उसको ओट में लिए पास खड़ा था—भीड़ से, धक्के-मुक्के से उसकी रक्षा करने के लिए तत्पर। मेरी सुरक्षा में कैसी निश्चित बैठी थी वह! और मैं धन्य हुआ-सा खड़ा था। सारा विषाद धुल गया था। वह शरीर जो पांच मिनट पहले तक, जैसे मिट्टी का ढेर था, अब जैसे बिजली की-सी स्फूर्ति से भर आया था।

"कहां तक जाओगी?" मैंने पूछा। जानता था, उसका उत्तर क्या होगा। फिर भी प्रकट क्यों करता।

"दरियागंज।" उसने अपनी आंखें ऊपर उठाकर मुझे देखा, जैसे पूछ रही हो, 'क्या तुम सचमुच नहीं जानते?'

मैंने देखा: उसका हाथ मेरी फाइल पर था, ठीक उस स्थान पर, जहां मेरा नाम लिखा हुआ था। मुझे लगा, उसने केवल लिखे हुए मेरे नाम को ही आच्छादित नहीं किया है—मेरा सारा अस्तित्व जैसे उसके स्पर्श का अनुभव कर रहा था।

दरियागंज पहुंचकर यथासंभव, मैंने उसके लिए मार्ग बनाया और उसे अपने साथ-साथ नीचे उतारा।

मैंने अपनी फाइल संभाली, "कहां है तुम्हारा घर?"

"अंसारी रोड।"

"अच्छा।" मैंने कहा और चलने की तैयारी की।

"घर नहीं चलोगे?"

मुझे जैसे किसी ने अमृत में नहला दिया। कहां उससे बात करने को तड़प रहा था और कहां वह अपने घर चलने का निमंत्रण दे रही थी।

"मुझे सरस्वती प्रेस की दुकान पर जाना है।"

"क्या काम है?"

"हंस का एक पुराना अंक लेना है।"

"चलो पहले वह काम कर लेते हैं; फिर घर चलेंगे।"

"किधर है वह दुकान?" मैं एकदम अनजान बन गया था।

"जामा मस्जिद वाले मोड़ पर, नुक्कड़ में एक छोटी-सी दुकान है।"

वह बोली, "आओ।"

'गोलचा' के सामने से हमने सड़क पार की और 'मोती महल' के आगे से पटरी पर चलते हुए हम 'सरस्वती प्रेस' की दुकान तक पहुंचे।

'हंस' का 'प्रेमचंद स्मृति विशेषांक' मुझे नहीं मिला; पर उस सभी सामग्री पर आधृत पुस्तक 'प्रेमचंद स्मृति' मिल गई।

जिस पुस्तक की खोज में मैं आया था, वह तो सहज ही मिल गई थी। पर इस समय पुस्तक मेरे लिए महत्त्वपूर्ण नहीं रह गई थी। मेरी उपलब्धि उससे कहीं बड़ी थी। मल्लिका मेरे साथ-साथ चल रही थी। उसकी कोई सखी-सहेली उसके साथ नहीं थी। हम अकेले थे और उसके घर जा रहे थे।

इस प्रकार चुपचाप चलते जाना मुझे अच्छा नहीं लगता था। शिष्टाचार के विरुद्ध तो लगता ही था, कहीं यह भी लग रहा था कि बहुत थोड़े-से समय के लिए यह अवसर हाथ आया है। यह भी ऐसे ही नष्ट हो जाएगा तो जाने फिर कभी ऐसा अवसर आए-न-आए। पर जो कुछ मेरे मन में था, वह उससे कह नहीं सकता था। क्या पता, मैं उससे कहूं कि वह मुझे अच्छी लगती है, तो वह एक आग्नेय दृष्टि मुझ पर डाले और मुंह मोड़कर चल दे। किसी ने उसे यही तो कहा था कि 'वह मुझे अच्छी लगती है। महीनों भुगता था उस एक वाक्य को मैंने। फिर कह बैठा तो उसके पास आने, और कुछ समय साथ बिताने का यह अवसर जो कभी-कभार मिल जाता है, यह भी नहीं मिलेगा।

वैसे भी उस समय अपने प्रेम का स्वीकार जाने मैं किन शब्दों में करता। लेखक हूं न! जब तक दो-चार ड्राफ्ट काट-पीटकर फेयर ड्राफ्ट तैयार न करूं, तब तक सही शब्दों में बात लिख नहीं सकता। वैसे ही जब तक पहले से स्थिति की ठीक-ठीक कल्पना कर कहने योग्य बातों को मन-ही-मन दो-चार बार ठीक से दुहरा न लूं, तब तक अपनी बात ठीक से कह नहीं सकता। जब कभी अकस्मात् कहने या लिखने पर आऊं; और ठीक-ठीक शब्दों में अपनी बात धाराप्रवाह कह या लिख जाऊं तो उसका अर्थ यही है कि मेरे मन ने चेतन या अचेतन धरातल पर उसकी तैयारी पहले से कर रखी है।

पर मल्लिका अपनी ओर से कुछ नहीं बोलेगी, या बहुत कम बोलेगी—यह मैं जानता था। बात तो मुझे ही करनी थी। वह तो थी ही घुन्नी।

"डिसर्टेशन लेकर मैंने मुसीबत मोल ली है।" मैंने बात आरंभ की।

"क्यों ? क्या हुआ ?" उसने पूछा, "सारे अच्छे विद्यार्थी डिसर्टेशन ही तो लेते हैं।"

"हां। लेते तो हैं। पर जितना समय वाकी सात पर्चों में लगता है, उतना तो यह डिसर्टेशन अकेला ही खा जाता है।"

"इसमें अंक भी अधिक मिलते हैं।" वह बोली, "कभी-कभी तो पचहत्तर से अस्सी तक अंक आ जाते हैं। इतने अंक और किसी पर्चे में आते हैं क्या ?"

"मैंने इसके बदले निबंध और ट्रांसलेशन वाला पर्चा लिया होता तो निश्चय ही इससे अधिक अंक लाया होता।"

"तुम्हें पहले मालूम नहीं था क्या ?" उसने पूछा।

"कुछ-कुछ आभास तो था, पर इतना स्पष्ट मालूम नहीं था।"

"पछता रहे हो ?"

"नहीं। पछताना क्या है।" मैं बोला, "यही मान लेते हैं कि इस पर किया गया श्रम आगे थीसिस लिखने में सहायक होगा।"

उसका घर आ गया था। घर में अकेली उसकी मां थीं। उसने मां से परिचय कराया, "यह विनीत है मां ! हम साथ ही पढ़ते हैं।"

मां ने कुछ नहीं कहा, बस नमस्कार का उत्तर भर दिया।

वह चाय बना लाई, तो मैंने पूछा, "पढ़ाई कैसी चल रही है ?"

"ठीक ही चल रही है।" वह बोली, "पर तुम मेरी पढ़ाई को छोड़ो। तुम बताओ, कैसी तैयारी है ?"

"ठीक ही है।"

"केवल ठीक या ठीक मात्र से काम नहीं चलेगा।" उसने बहुत अधिकार से कहा, "वचन दो कि यूनिवर्सिटी में टाप करोगे।"

"टाप करने पर तुम्हारा इतना बल क्यों है ?"

"क्योंकि तुम टाप कर सकते हो और तुम्हें टाप करना चाहिए।"

मेरा मन अपने अनुशासन के सारे बंधन तोड़ने के लिए बुरी तरह छटपटा रहा था। पर मेरा विवेक लगातार मुझे सावधान कर रहा था कि मैं किसी भी बात की जल्दी न मचाऊं। कहीं ऐसा न हो कि बनती-बनती बात फिर रह जाए···

पर जब किसी भी प्रकार स्वयं को रोक नहीं पाया तो पूछ ही बैठा, "बस ! इतनी ही बात है ? उसके आगे कुछ नहीं ?"

उस क्षण उसने जिन आंखों से मुझे देखा, उनका वर्णन बहुत ही कठिन है। जैसे वे आंखें कह रही हों, 'सब कुछ जानते-समझते भी मुझसे ही कहलवाना चाहते हो ? मुझे बाध्य मत करो।' उन आंखों की मजबूरी पढ़कर मेरी वाणी जैसे थम गई। समझ नहीं पाया कि बात को अब टालूं भी तो कैसे।

अंत में वह ही बोली, "बात तो और भी है, या और ही है; पर अभी मैं कहूंगी नहीं।"

उसके इस एक वाक्य से जैसे मैं भीग-भीग गया। चुपचाप उसे देखता रहा : किस बात की प्रतीक्षा कर रही है मल्लिका ? जो कुछ कहना है, कहती क्यों नहीं; या मुझे ही कह लेने का अवसर क्यों नहीं देती ? या क्या उसने सब कुछ कह दिया ?···

"विनीत !" सहसा वह बोली, "अगले शनिवार को मेरा जन्मदिन है। अपनी दो-चार सहेलियों को बुलाया है। तुम भी आना।" वह रुकी, "पर अकेले मत आना। साथ त्रिपाठी को भी ले आना।"

उसके घर से विदा हुआ तो मेरी आत्मा तक जैसे मद में हिलकोरे खा रही थी। मैं तो स्वयं को किसी प्रकार ठेल-ठालकर लाया था कि 'हंस' का विशेषांक प्राप्त कर सकूं; ताकि मेरा डिसर्टेशन का काम पूरा हो सके। यहां आकर वह उपलब्धि हुई कि लगता है कि जीवन की सारी कामनाएं ही एकबारगी तृप्त हो जाएंगी।···और उस दिन मुझे पहली बार लगा

कि अब तक मैं मल्लिका के आकर्षण में बंधा हुआ अवश्य था, उसके निकट जाने के लिए तड़प भी बहुत रहा था; पर रुककर कभी सोचा नहीं था कि इस संपर्क को संबंध के किस रूप में परिणत होना है…आज जैसे पहली बार मैं अपने मन को समझ रहा था।…मैं सारे जीवन के लिए मल्लिका के साथ बंध जाना चाहता था। और शायद यही इच्छा मल्लिका की भी थी…आज तक केवल कामना को ही जाना था, आज जाना कि कामनाएं यथार्थ में बदल भी सकती हैं…

बस-स्टाप की ओर बढ़ा तो अचानक ध्यान आया कि शनिवार को उसका जन्मदिन है…उसके लिए उपहार? उपहार में देने के लिए मैं पुस्तकों के सिवाय कभी और कुछ सोच ही नहीं सका। कपड़ा-लत्ता मुझे आवश्यकता की वस्तु लगती है। उपहार का महत्त्व तो 'पुस्तक' को ही प्राप्त है।…तो फिर क्यों न मैं उसके लिए उपहार आज ही खरीद लूं। फिर जाने दरियागंज आना हो, न आना हो।…वैसे पुस्तकों की कुछ दुकानें कमला नगर और बंग्लो रोड पर भी थीं, पर वे ऐसी बड़ी दुकानें नहीं थीं। अपनी मनपसंद पुस्तक लेनी हो तो आज दरियागंज से ही ले लेनी चाहिए।

पुस्तक खोजने के लिए उस दिन मैं दरियागंज में खूब भटका।

"कौन-सी पुस्तक खरीदी तुमने?" सहसा केतकी ने टोक दिया, "मालूम तो हो कि प्रेम में उपहार दिए जाने योग्य कौन-सी पुस्तक है?"

"महादेवी वर्मा की 'यामा'।" विनीत बोला, "अब मुझे ठीक याद नहीं कि वह पुस्तक तभी छपकर नई-नई आई थी, या मेरी ही नजर उस पर उन दिनों पड़ी थी। पर वह पुस्तक मुझे पसंद बहुत थी। उसके गीत, चित्र, पुस्तक की छपाई और जिल्द—सारा कुछ मिलाकर उस पुस्तक का इतना महत्त्व मुझे लगा कि उसे मैं मल्लिका को अपने पहले उपहार के रूप में दे सका।"

"पैसे थे तुम्हारे पास?"

"खूब पकड़ा तुमने।" विनीत जोर से हंसा, "संयोग से उन दिन

पैसे थे । हुआ यह था कि घर से मनीआर्डर आया था; और उस दिन चूंकि 'हंस' का विशेषांक खरीदने निकला था, तो जेब में खूब सारे रुपए डाल लिए थे कि जाने कितने का हो। इन्हीं कारणों से उस दिन पैसे थे, नहीं तो उन दिनों अपनी जेब में दो-चार रुपयों से ज़्यादा कभी कुछ नहीं रहा।"

" 'यामा' का मूल्य क्या था उन दिनों ?"

"याद नहीं।" विनीत बोला, "बस इतना समझ लो कि उन दिनों के हिसाब से महंगी थी।"

"तो प्रिया को तुमने महंगा उपहार दिया···!"

पुस्तक लेकर मैं होस्टल आ गया। पर पुस्तक जैसे भूत की तरह मेरी खोपड़ी से चिपक गई थी। समस्या थी कि उपहार देते हुए क्या लिखूं ? ऐसे शब्द कहां मिलेंगे जो मेरी भावना पूरी गरिमा के साथ संप्रेषित भी कर दें और बात का बतंगड़ भी न बने। मैं जानता था कि पुस्तक सरसों का दाना नहीं थी कि कहीं छिपाकर रख दी जाती और उस पर किसी की दृष्टि भी न पड़ती। मैं यह चाहता भी नहीं था कि वह मेरा उपहार छिपाकर अपने बक्स, अलमारी या ऐसे ही किसी तहखाने में डाल दे। न कभी उसे अपने हाथों में ले, न उसे पढ़े और न मुझे याद करे। मैं नहीं चाहता था कि मेरा उपहार उसके लिए किसी भय का कारण बने। उपहार देखते ही उसके हाथ-पैर कांपने लगें और वह उसे छिपाने का प्रयत्न करे···

अगले दो दिन मैंने न ढंग से पढ़ाई की, न अपने डिसर्टेशन का काम किया। यूनिवर्सिटी से जो समय बचा, वह मैंने अपने कालेज के पुस्तकालय में उपयुक्त पंक्तियां ढूंढ़ने में लगाया। और अंत में पुस्तक पर मैंने 'बच्चन' की पंक्तियां लिखीं :

"आज तुम्हारे जन्मदिवस की मंगल वेला आई है,
फूल-कली की मुस्कानों की तुमको आज बधाई है।"

शनिवार की शाम को जब मैं और त्रिपाठी उसके घर पहुंचे तो मेरी

समझ में आया कि उसने त्रिपाठी को साथ लाने के लिए क्यों कहा था। उसने सचमुच अपनी चार-पांच सहेलियों को ही बुलाया था। उनमें से एक भी सहेली उसके कालेज या यूनिवर्सिटी की नहीं थी। लड़का तो हम दोनों के सिवाय और कोई था ही नहीं। यदि मैं अकेला ही गया होता तो निश्चित रूप से सबकी आंखों में मैं कुछ अधिक ही चुभता।

यूनिवर्सिटी में साथ पढ़ने वाली उसकी कोई सहेली वहां थी ही नहीं, जो पूछ सकती कि क्लास के सारे लड़कों में से केवल हम दोनों को ही क्यों बुलाया गया है। या वह यूनिवर्सिटी में समाचार पहुंचाती कि हम दोनों मल्लिका के घर पर आमंत्रित थे; या, मल्लिका से हमारी इतनी घनिष्ठता है कि हम उसके घर आमंत्रित हो सकते हैं।···

मुझे मानना पड़ा कि लड़की इन मामलों में बहुत समझदार भी है, बहुत सावधान भी और बहुत भीरु भी।

पार्टी अच्छी-खासी थी। मल्लिका समेत हम सात-आठ लोग थे। खाने को ढेर सारी चीज़ें थीं। उसकी सहेलियां बहुत शोख और चुलबुली थीं। कटर-कटर-कटर बोलती थीं और बेतहाशा हंसती थीं। किसी की भी एक ज़रा-सी बात पर इतना हंसतीं, इतना हंसतीं कि घर में हंगामा हो जाता···

मल्लिका ने मुझे अपनी एक खास सहेली से मिलाया—सावित्री से। परिचय दिया, "जो मैं किसी से नहीं कह सकती, वह भी सावित्री से कह देती हूं। मेरा ऐसा कुछ नहीं है, जो सावित्री न जानती हो।" उसने साभिप्राय आंखों से मुझे देखा, "बाकी सहेलियां मेरे आसपास रहती हैं, सावित्री मेरे भीतर रहती है।"

मैं समझ गया कि मल्लिका मुझे क्या बताना चाहती है: संभवत: उसने मेरे विषय में सावित्री को बता रखा था। सावित्री मुझे बहुत ध्यान से देख रही थी। शायद मुझे परख रही थी: मैं क्या हूं, कैसा हूं, उसकी सखी का 'चुनाव' होने योग्य हूं या नहीं···

मैंने भी उसे एक नज़र देखा, पर उसके प्रति मेरी रुचि नहीं जागी। रुचि योग्य उसमें कुछ था नहीं और मेरी मन:स्थिति एकाग्रता की थी। खैर, मल्लिका की वह राज़दार थी, यही उसका महत्त्व था।

मैंने प्रेम के खेल के नियम अधिक वैज्ञानिक ढंग से सीखे-पढ़े होते तो मैंने सावित्री के महत्त्व को समझा होता। उसके महत्त्व को स्वीकार करता तो भविष्य में संकट के समय, मल्लिका तक पहुंचने में उससे सहायता मिलती। शायद मल्लिका मुझे समझाना भी यही चाहती थी। पर मैंने सावित्री को एक नज़र देखकर कूड़ेदान में डाल दिया।

मैं उस समय बहुत ऊंचे-ऊंचे उड़ रहा था : मल्लिका ने अपनी वर्ष-गांठ के अवसर पर इस तरह मुझे अकेले को बुलाकर सारी बातें साफ कर दी थीं। उसने अपना चुनाव और मेरे प्रति अपनी भावना बहुत स्पष्ट कर दी थी···मुझे अब किसी सावित्री के सहारे की क्या आवश्यकता थी···

त्रिपाठी की अपनी ममता तो वहां थी नहीं। इसलिए किसी एक व्यक्ति में उसकी रुचि नहीं थी। वह मल्लिका की सहेलियों के बीच जम गया और उन्हें चुटकुले सुनाने लगा।···पर मेरी दृष्टि लगातार मल्लिका का पीछा कर रही थी। मेरी इच्छा थी कि वह कहीं एक जगह बैठ जाए तो मैं उसकी साथ वाली कुर्सी पर अधिकार कर लूं। उससे कुछ बातचीत हो। उसके घर आकर भी, उससे बिना कोई आत्मीय बातचीत के लौट जाना—किसी श्रद्धालु के गंगा-तट पर जाकर बिना डुबकी लगाए लौट आने जैसा ही होता।

पर वह इस संदर्भ में और भी सावधान थी। दो घंटे की उस पार्टी में सामान्यतः वह कहीं बैठी ही नहीं। या तो रसोई में चली जाती, या प्लेटें उठाकर किसी से और कोई चीज़ लेने का आग्रह करने लगती, किसी से बात करने के लिए उसके पास चली जाती और खड़ी-खड़ी बात कर टल जाती। एक अच्छी आतिथेय के रूप में वह सबका एकसमान ध्यान रख रही थी। कोई नहीं कह सकता था कि उसे पूरा महत्त्व नहीं दिया गया। इस बीच यदि अवसर मिलता और वह कहीं बैठ जाती तो मेरा प्रयत्न उसके साथ वाली कुर्सी हथियाने का होता। पर अनेक बार उसके पास बैठने के बावजूद, मैं कभी भी तीन-चार मिनट से ज़्यादा उसके पास नहीं बैठ सका। हर बार किसी-न-किसी काम का बहाना कर वह उठ गई।

मैं समझ गया कि वह कुछ इतनी अधिक सावधान थी कि मेरा मनचाहा संभव नहीं था।

अंत में जब विदा लेकर हम बस-स्टाप पर पहुंचे तो त्रिपाठी ने पूछा, "आज तो मनभावन पाया ?"

उसने उस शैली में पूछा था, जिसमें मेले में घुमा-फिराकर, खिला-पिलाकर घर लौटते हुए पिता, पुत्र से पूछता है, 'प्रसन्न हो न ?'

मैं क्या कहता ! 'साहिर' की पंक्तियां दुहरा दीं :

"चंद कलियां निशात की चुनकर
मुद्दतों महवे यास रहता हूं।
तेरा मिलना खुशी की बात सही,
तुझसे मिलकर उदास रहता हूं।"

"तू अतृप्त ही मरेगा मेरे यार !" त्रिपाठी ने मेरी पीठ पर एक धौल जमा दिया।

"एक कप चाय हो जाए।" केतकी ने कथा बीच में रोक दी, "तुम्हारी मल्लिका की बर्थ-डे पार्टी के वर्णन से मेरे भी मन में चाय के एक कप की इच्छा जाग गई है।"

"हो जाए।" विनीत बोला, "एक तो मल्लिका की पार्टी का पुनर्स्मरण; और फिर चाय के प्रस्ताव को कौन काफिर मना करेगा !" वह रुका, "पर चाय मैं बनाऊंगा।"

"तुम्हें चाय बनानी आ गई है ?" केतकी ने आश्चर्य से पूछा, "इसका अर्थ है कि तुम पत्नी की काफी सहायता करते हो।"

"मुझे चाय बनानी तो क्या, शेव के लिए पानी गर्म करना और सलाद काटना तक आ गया है। अब पाकशास्त्र में बाकी क्या रह गया है।" विनीत हंसा, "पर इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं शोभा की सहायता करता हूं। इसका अर्थ है कि शोभा बहुत अच्छी प्रशिक्षिका है, जिसने मुझ जैसे घामड़ को भी दो-चार चीजें सिखा ही दी हैं।"

"ओ मैन !" केतकी उल्लसित स्वर में बोली, "तुम तो अब भी अपनी पत्नी पर फिदा मालूम होते हो : absolutely gone on her."

"तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है ?" विनीत ने पूछा, "व्यक्ति डांट

अपनी पत्नी से खाएगा तो प्यार क्या पड़ोसी की पत्नी को करेगा ? अरे, जिससे डांट खाएगा, प्यार भी तो उसी से करेगा।"

केतकी खूब हंसी। उसकी इस प्रकार की हंसी को विनीत 'हंसी का दौरा' कहा करता था। केतकी वैसे ही एक दौरे से गुज़री। और बोली, "तुम जिससे डांट खाते हो, उसी से प्यार करते हो···।"

"नहीं ! नहीं ! I am sorry." विनीत बोला, "शायद मैं कुछ गलत बोल गया। मैं कह रहा था, जिससे डांट खाता हूं, उसी से प्यार पाता हूं। शोभा में वात्सल्य कुछ अधिक ही है।"

"लग रहा है।" केतकी बोली, "तुम्हें काफी बिगड़ैल बच्चा बना रखा है।"

"Thank you."

केतकी को हंसी का दूसरा दौरा पड़ा, "Thank you तो ऐसे कह रहे हो, जैसे मैंने कोई compliment दिया हो। खैर···" वह रुकी, "मैं कह रही थी कि साधारणतः लोग पत्नी से प्रेम नहीं करते : उसे सहते या झेलते हैं। वह उनके लिए necessary evil है।"

"पत्नी है तो necessary evil," विनीत सहज भाव से कह गया, "जैसे जीवन अपने-आप में necessary evil है। तो आदमी जब जीवन से प्यार कर सकता है, तो पत्नी से प्यार क्यों नहीं कर सकता !"

"सीधे-सीधे क्यों नहीं कहते कि तुम्हें पत्नी उतनी ही प्यारी है, जितना कि जीवन ! वह तुम्हारा जीवन है, सांस है, प्राण है···।" केतकी हंसती चली गई, "ये सारे डायलाग उसके सामने बोलते तो वह कितनी खुश होती।···पर विषय गंभीर है । इस पर तो बाकायदा सेमिनार होना चाहिए, 'आखिर व्यक्ति अपनी पत्नी से प्रेम क्यों नहीं कर सकता ?' सोचेंगे इस विषय में।" केतकी उठते हुए बोली, "पर पहले चाय के विषय में सोच लें।"

"Philosophy of tea ?" विनीत भी उठा, "या Concepts of tea-drinking ?"

"तुम पिटोगे अब। हर विषय को मेरे थीसिस के टापिक के साथ जोड़ देते हो।" केतकी ने प्रतिवाद किया, "मेरा थीसिस इतना हास्यास्पद है

क्या ?"

केतकी रसोई की ओर चली गई। विनीत भी उसके पीछे-पीछे आया।

"मैंने जीवन के सामान्य पहलुओं को तुम्हारे थीसिस के साथ जोड़ा तो तुमने मान लिया कि तुम्हारा थीसिस हास्यास्पद है। तुमने यह क्यों नहीं माना कि जीवन इतनी गंभीर चीज़ है कि उसका हर सामान्य पहलू थीसिस का विषय हो सकता है।"

"ओ० के०। फ्रिज से दूध निकालो : Concepts of milk fetching." केतकी मुस्कराई।

"That is like you." विनीत दूध ले आया। फिर उसने शेल्फ में से चाय की पत्ती और चीनी निकालकर गैस के पास धर दीं। दो कप, प्लेटें और चम्मच भी निकाल, पोंछकर ट्रे में सजा दिए।

केतकी चुपचाप देखती रही। जब वह ट्रे सजा चुका तो बोली, "I must pay my compliments to your wife Shobha in absentia. उसने तो तुम्हें आदमी बना दिया।"

"हर चट्टान में एक मूर्ति होती है।" विनीत ने अत्यन्त दार्शनिक ढंग से उत्तर दिया, "आवश्यकता होती है एक मूर्तिकार की, जो उस चट्टान के अनावश्यक टुकड़े छांट दे।"

"बात बहुत गंभीर कही है तुमने।" केतकी चाय को छलनी के बीच में से कपों में डालती हुई बोली, "पर चाय का कप हाथ में थामकर, एक चुस्की लेकर कहा होता तो बात और भी गहरी लगती। लगता, आदमी चाय के नशे में दार्शनिक हो जाता है और 'टी बोर्ड' इस बात का प्रचार सारे संसार में करता। बाई गाड, तुम अरस्तू और सुकरात के साथ कोट किए जाते।"

"केतकी !" विनीत कुछ आकस्मिक ढंग से बोला, "तुम्हें यह नहीं लगता कि कनाडा में जाकर तुम्हारी परिहास और विनोद-वृत्ति कुछ धारदार हो गई है। पहले तो तुम बहुत सिड़ी हुआ करती थीं।"

"मैं तो हुआ करती थी।" केतकी तड़ से बोली, "तुम तो हो। आज सुबह विज्ञान-भवन में कैसे मुंह फुलाकर बैठ गए थे। मैंने न इतना मनाया

होता तो हमारी मुलाकात वहीं समाप्त थी।"

"यह सचमुच गंभीर बात है।" विनीत बोला, "मैं चाहता था कि थोड़ा-सा स्पष्टीकरण कर ही दूं।"

"क्या है स्पष्टीकरण?"

"वस्तुत: मैं तुमसे बहुत आशंकित था।"

"मुझसे?" केतकी ज़ोर से हंसी, "क्यों भई! मुझसे क्यों आशंकित थे तुम?"

"विदेश से आई हो। अमरीकन पति है तुम्हारा। कनाडा के विश्वविद्यालय में पढ़ा रही हो।" विनीत बोला, "अपने यहां फारेन रिटर्न का बड़ा रौब रहता है। मुझे लगता है कि मेरे अवचेतन में कहीं यह आशंका थी कि अब तुम मैत्री के उस धरातल पर नहीं मिलोगी, और मुझे हीन दृष्टि से देखोगी—क्योंकि तुम विदेश में पहुंच गई हो और मैं अपने देश में ही सड़ रहा हूं। संभवत: वह मेरी अपनी ही हीन भावना थी।"

"चलो माफ किया।" केतकी बोली, "वैसे जो बाहर चले गए हैं, वे लौटने के लिए तड़प रहे हैं और जो नहीं गए हैं, वे स्वयं को सड़ता हुआ समझ रहे हैं। कैसी विकट स्थिति है!" वह सायास मुस्कराई, "वैसे तुमने मुझे बहुत अपसैट कर दिया था।"

"I am sorry."

"काफी मेच्योर हो गए हो।" केतकी मुस्कराई, "अब यह समझने लगे हो कि भूल तुमसे भी हो सकती है। और फिर अपनी गलती भी मान लेते हो। नहीं तो तुम और अपनी गलती मानो। जमाना इधर से उधर हो जाए, पर तुम टस से मस होने वाले जीव नहीं थे।"

"तुम कहना चाह रही हो कि मुझमें अब दृढ़ता ही नहीं रही।" विनीत ने अत्यन्त दीन होने का अभिनय किया।

"नहीं। अब तुममें हठ नहीं रहा।" केतकी हंसी, "और इतने दीन मत बनो। पिघल गई तो सांत्वना का हाथ तुम्हारे सिर पर फिरा दूंगी।"···

विनीत को लगा कि उसके भीतर विनीत-शत्रु ज़ोर से हंस रहा है, "बढ़े चलो। बढ़े चलो। बातों से स्पर्श तक आएगी यह! स्पर्श से

आलिंगन…।"

विनीत को लगा, उसे पसीना आ गया है।

"क्या हुआ ?" केतकी ने पूछा।

"कुछ नहीं।" विनीत ने स्वयं को संभाला, "चाय गर्म है। पीते ही पसीना आ गया।"

"ओ० के०। चलो, अब अपनी प्रीति-कथा शुरू करें।" वह बोली, "सुंदर शब्द चुना है न मैंने—'प्रीति-कथा'।"

"हां। सुंदर है।"

यद्यपि मैं दो बार मल्लिका के घर हो आया था और एक प्रकार से हम दोनों ही अपना भाव भी जता चुके थे; किंतु यूनिवर्सिटी में हमारा व्यवहार अब भी पहले जैसा ही था। व्यवहार में मल्लिका इतनी सावधान थी कि वह तनिक भी आभास नहीं देना चाहती थी कि मुझसे उसकी कुछ भी घनिष्ठता है, या मेरे प्रति उसके मन में हल्का-सा भी कोई विशेष भाव है।…उसका यह व्यवहार मुझे सदा ही उलझन में डाले रहता था। एक स्थायी अतृप्ति जैसे मेरे भीतर घर कर गई थी। जब भी उसे देखता, सतृष्ण दृष्टि से ही देखता। जब उसे नहीं देख पाता, तो वैसे ही परेशान रहता। काफी कुछ देवदास की-सी स्थिति थी। मन का भारीपन जैसे मेरा स्वभाव बन गया था।…कई बार लगने लगा, वह मुझसे क्रीड़ा तो नहीं कर रही ? यह न हो कि मैं उसके सामान्य शिष्टाचार को भ्रमवश उसका प्रेम समझकर अपने मन में उसके लिए कोमल भाव पालता रहूं; अंत में निराशा अलग हाथ लगे और कलंक ऊपर से कि दिलफेंक व्यक्ति हूं। जब-तब मान लेता हूं कि कोई भी लड़की मुझसे प्रेम करती है…

एक वह ममता है। त्रिपाठी से प्रेम करती है तो करती है। उसके पास घंटों बैठती है। उसके साथ घूमती है। कहीं भी जाते हैं, दोनों इकट्ठे जाते हैं। अब तो त्रिपाठी उसके घर भी चला जाता है। कह रहा था कि कई बार ममता भी उसके घर हो आई है। उसके माता-पिता, बहन-भाइयों से भी मिल आई है। उसे क्या बदनाम होने का भय नहीं है ?…

सारा सुनाम इसी मल्लिका के हिस्से ही आया है ? मुझसे थोड़ा-सा भी लगाव है उसको तो फिर स्वयं को इतना बचाकर क्यों रखना चाहती है···यह क्या है कि मुझे उलझाए हुए है और स्वयं को पूरी तरह से बचाए हुए है···

मन में इस प्रकार के विचार आते ही मैं रस्सा तुड़ाकर स्वतंत्र हो जाने का प्रयत्न करता। सुबह से शाम तक अपने-आपको याद दिलाता कि मेरा लक्ष्य पढ़ना है, और कुछ भी नहीं। मैं क्यों अपना समय इधर-उधर नष्ट कर रहा हूं···पर यह बुखार कुछ ही घंटों में उतर जाता और मैं मान जाता कि रस्सा तुड़ाना इतना सरल नहीं है। इतना ही सहज होता तो हज़ारों वर्षों से इतने लोग प्रेम की पीड़ा का राग क्यों अलापते। वे रस्सा तुड़ाकर स्वतंत्र न हो जाते···और तब जैसे मुझ पर दीनता का दौरा पड़ता···क्या करूं ? कहां जाऊं ? उस मल्लिका को कैसे समझाऊं ?···

कई बार मन में आया कि मैं भी त्रिपाठी के ढंग को अपना लूं। कोई-न-कोई बहाना बनाकर, किसी-न-किसी प्रकार उसके आसपास मंडराता रहूं। कभी तो मिलेगी ही। कोई बात तो करेगी ही···पर तुरंत ध्यान आता कि मुझमें शायद इतना धैर्य ही नहीं है। मैं उसकी एक झलक पाकर संतुष्ट हो जाने वाला जीव नहीं हूं।···और फिर हर समय यह सोचते रहना कि अब कौन-सा बहाना बनाकर उसके पास जाऊं···चौबीसों घंटे मन पर योजनाओं, षड्यंत्रों और एक प्रकार के झूठ का भूत सवार रहेगा, तो मेरी पढ़ाई का क्या होगा ? त्रिपाठी को तो पता नहीं, पास भी होना है या नहीं। मुझे तो विश्वविद्यालय में प्रथम आना है···

वैसे भी झूठ और चापलूसी से मुझे घृणा थी। यह सब मेरे बस का नहीं था।

एक रोज़ संयोग ही था कि आर्ट्स फैकल्टी की सीढ़ियां चढ़ते हुए मुझे मल्लिका अकेली मिल गई। मेरा सारा आवेश जैसे फूट बहा, "हद कर रखी है मल्लिका तुमने !"

"क्या हो गया ?" वह अत्यन्त शांत भाव से मुस्कराई।

"अभी कुछ हुआ ही नहीं !" मैं खीझा, "हफ्तों तुमसे दो वाक्य बोलने का अवसर नहीं मिलता। साथ मिलकर कहीं बैठें, इसका तो प्रश्न ही नहीं

उठता।"

उसकी मुस्कान और भी मधुर हो गई। फिर जैसे वह पुचकारती हुई बोली, "यह मिलकर बैठने का समय है या पढ़ाई का ? फाइनल एक्साम्ज़ को समय ही कितना रह गया है, कुछ ध्यान भी है ?"

मेरे आवेश की सारी झाग जैसे एकाएक ही बैठ गई।

"तुम्हें यूनिवर्सिटी में टाप करना है।" उसने मुझे याद दिलाया, "समय नष्ट मत करो। पहले परीक्षा दे लो।"

मैं कुछ संभला, "तैयारी तो कर ही रहा हूं, पर डिसर्टेशन पहले जान छोड़े तब न !"

"क्यों, डिसर्टेशन को अब क्या हो गया है ?" उसने पूछा।

"कोई-न-कोई संदर्भ छूट ही जाता है।" मैंने कहा, "अब फिर 'हंस' और 'जागरण' के कुछ अंक देखने पड़ेंगे।"

"तो देख लो न ! टाल क्यों रहे हो ?"

"टाल नहीं रहा।" मैं बोला, "वे अंक ही नहीं मिल रहे हैं। अब किसी ने कहा है कि यदि वे अंक कहीं मिल सकते हैं तो केवल मारवाड़ी पुस्तकालय में ही मिलेंगे। पर मैं वहां का सदस्य नहीं हूं।"

"मैं हूं।"

"तो मुझे ज़रा वे अंक निकलवा दो। वे इशू न भी करें तो काम चल जाएगा। मैं वहां काउंटर पर खड़ा-खड़ा ही पृष्ठ पलटकर पृष्ठ-संख्या देख लूंगा।"

"तो चलो। कब चलना चाहते हो ?" उसने पूछा।

"कल शाम को आ जाऊं—चार बजे ?"

"कल शनिवार है न ! यूनिवर्सिटी बंद रहेगी। ठीक है, शाम को आ जाओ।"

स्थान तय करना शेष था। पता नहीं क्यों, मुझसे यह पूछा नहीं गया कि 'तुम्हारे घर आ जाऊं ?' 'घर' कहते हुए जैसे एक संकोच-सा होता था। यूनिवर्सिटी से बाहर हमारे एकांत मिलन का स्थान वही था। सारी कक्षा में सिवाय त्रिपाठी के कोई नहीं जानता था कि मैं दो बार उसके घर गया हूं···वह भी इसलिए जानता है, क्योंकि मैंने उसे अपने इस भेद

में स्वयं सम्मिलित किया था।...

"वहीं आ जाऊं ?" बड़ी मुश्किल से मैंने पूछा, जैसे 'वहीं' हमारा कोई संकेत-शब्द हो—कोड-वर्ड।

"आ जाओ।" उसने कहा और सीढ़ियां चढ़ गई।

मेरे लिए सिवाय इसके और कोई उपाय नहीं था कि मैं सीढ़ियां उतर जाता।

अगला दिन शनिवार था। न यूनिवर्सिटी जाना था, न कालेज। इसीलिए मैंने मल्लिका के साथ शाम का समय तय किया था। सोचा था कि सुबह के समय जमकर पढ़ाई करूंगा। खाने के बाद कुछ आराम और थोड़ी हल्की पढ़ाई। शाम को उससे मिलना। 'हंस' और 'जागरण' के अंक मिल गए तो बहुत ही अच्छा। नहीं तो मल्लिका के साथ भेंट भी कम उपलब्धि नहीं है। सारी शाम ऐसी महकेगी कि सप्ताहों तक उसकी सुगंध से मन मदमत्त रहेगा...

सुबह डायनिंग हॉल से अपने कमरे में लौटा ही था। अभी सोच ही रहा था कि कौन-सा काम लेकर बैठूं कि मन में एक 'भ्रमर गुंजार' शुरू हो गया, 'पहनकर क्या जाएगा ?' 'पहनकर क्या जाएगा ?'

"तुम्हें याद है केतकी !" विनीत ने सहसा कथा तोड़ दी, "कि दिल्ली आने से पहले, जमशेदपुर में भी मैं सूती कपड़े की केवल सफेद पतलून और सफेद कमीज़ पहना करता था ?"

"याद है।" वह बोली, "पर केवल गर्मियों में। मुझे याद है कि तुम भी सफेद पतलून-कमीज पहना करते थे और प्रो० मेहता भी। और जब सुदर्शना उनके अनुराग में रंग गई थी, तो वह भी केवल सफेद साड़ियां और सफेद सलवार-कमीज़ पहनने लगी थी।"

"हां। और जहां तक मुझे याद है," विनीत बोला, "वहां जमशेदपुर में कोई भी हमारी वेशभूषा पर टिप्पणी नहीं करता था। बल्कि हम लोग

बहुत चारु-वेश पुरुष माने जाते थे।…"

"यह चारु-वेश क्या होता है विनीत महोदय ?" केतकी ने टोका।

"मैंने 'वेल ड्रेस्ड' का अनुवाद इन शब्दों में किया है।" विनीत ने उत्तर दिया और अपनी बात आगे बढ़ाई, "पर दिल्ली आकर क्या हुआ, मालूम है ?"

"क्या हुआ ?"

"होस्टल में मेरे साथ रहता था हरीश। मेरे हिसाब से उसे न पहनना-ओढ़ना आता था, न बात करना। सोचने-समझने की तो कोई चर्चा ही नहीं थी और पढ़ने में तो वह फसड्डी था ही।"

"यह हरीश कहां से टपक पड़ा बीच में ?"

"मेरे साथ के कमरे से।" विनीत बोला, "मैं 69, रामजस कालेज होस्टल का निवासी था, वह 68, रामजस कालेज होस्टल का।"

"अरे बाबा ! मैं पूछ रही हूं—इस कथा में उसका क्या काम है ?"

"उसने मुझे बताया कि मुझे सदा सफेद-सूती कपड़ों में देखकर उसने मन-ही-मन सोचा था कि मेरे पास केवल दो जोड़े सफेद कमीज़-पतलून हैं। मैं एक को धोता था और दूसरे को पहनता था। पर उसे आश्चर्य इसी बात का था कि मैं हर रोज़ अपने कपड़े कब धो लेता था और कब प्रेस करवा लेता था।"

"भाड़ में झोंको हरीश के विचारों को। तुम अपनी प्रीति-कथा आगे बढ़ाओ।" केतकी कुछ आतुरता से बोली।

"धैर्य रखें देवि !" विनीत अत्यन्त नाटकीय मुद्रा में बोला, "यह वेश-भूषा का प्रसंग भी उसी प्रीति-कथा के संदर्भ में है।"

"इसका उससे क्या संबंध ?"

"वही निवेदन कर रहा हूं।" विनीत ने अपनी नाटकीय मुद्रा नहीं छोड़ी, "तो तुम सोचो कि जहां हरीश जैसा व्यक्ति भी यह मानता था कि मैं आर्थिक मजबूरी के कारण अच्छे कपड़े नहीं पहन सकता, वहां वे संपन्न घरों की फैशनेबल कन्याएं मेरी वेशभूषा के विषय में क्या सोचती होंगी।"

"क्या सोचती होंगी ?"

"जाने क्या सोचती होंगी।" विनीत बोला, "मैंने पहले तो कभी

और तब उन्होंने सूचना दी, "मल्लिका तो घर में नहीं है।"

मुझ पर जैसे पहाड़ टूट पड़ा : मुझे घर पर बुलाकर गायब हो गई ?

"कहां गई है ?" मैंने पूछा।

"लायब्रेरी गई है।" उन्होंने बताया, "कह रही थी कोई किताब लानी है।"

मेरे मस्तिष्क में बिजली कौंधी : मैंने पूछा था, 'वहीं आ जाऊं ?' उसने वहीं का अर्थ 'मारवाड़ी पुस्तकालय' ही समझा होगा। मैं भी कैसा मूर्ख हूं कि 'वहीं' का अर्थ 'उसका घर' समझ रहा हूं···

मैं उठ खड़ा हुआ।

"अरे बैठो। वह अभी आ जाएगी।" मां बोलीं।

"नहीं।" मुझे बताना ही पड़ा, "वह किताब मुझे ही चाहिए। मैं उससे लायब्रेरी में ही मिल लूंगा। अच्छा जी ! नमस्ते।"

•

मैं भागा।

कैसा मूर्ख हूं मैं। हो सकता है, वह घर में बताना भी न चाहती हो और मैं सीधा उसके घर ही जा पहुंचा। उसकी सारी सावधानी धरी की धरी रह गई। ऐसे तो किसी दिन मैं उसे परेशानी में ही डाल दूंगा···

बाहर निकल, सड़क पर आकर मैंने स्कूटर लेने की सोची। चार-पांच स्कूटर वालों से पूछा भी, पर मारवाड़ी पुस्तकालय, दरियागंज से इतना पास था कि इतनी कम दूरी के लिए, चलने को कोई तैयार ही नहीं हुआ। घड़ी की सुई के आगे बढ़ने के साथ-साथ मेरी परेशानी भी बढ़ती जा रही थी। वह वहां मेरी प्रतीक्षा में परेशान हो रही होगी। परेशान होकर कहीं वह चल ही न दे।···पर मैं कर भी क्या सकता था।

अंत में मैं सामने आई बस में ही चढ़ गया। लाल किले पर उतरा और फव्वारे की ओर भागा। लाल किले से फव्वारे तक की जो दूरी वैसे इतनी कम लगती थी, उसे भी पैदल पार करने में दस मिनट लग ही गए।

जब तक सीढ़ियां चढ़कर ऊपर पुस्तकालय तक पहुंचा, मैं लगभग हांफ रहा था। घड़ी देखी : साढ़े चार हो चुके थे। फिर भी उसे मैंने सारे

पुस्तकालय में ढूंढ़ा : मल्लिका का कहीं कोई पता नहीं था। उस दिन पुस्तकालय में आने वाले सदस्यों का रजिस्टर देखा, उसमें भी उसके हस्ताक्षर नहीं थे।

पुस्तकालय के कर्मचारियों से पूछना व्यर्थ था। लौटकर उसके घर जाना अब अपनी मूर्खता को और भी उजागर करना था।···लाचार, सिर पीट लिया और होस्टल की ओर लौट पड़ा।

उस दिन मल्लिका से मिलने की जितनी आतुरता थी, अगले दिन उसके सामने जाने में उतना ही संकोच था। क्या सोच रही होगी वह मेरे विषय में ? जब घर जाने की कोई बात नहीं हुई थी, तो मैंने 'वहीं' का अर्थ 'उसका घर' कैसे समझ लिया ? केवल इसलिए कि मैं बहुत घर घुस्सू किस्म का आदमी हूं। मुझे घर से बाहर सार्वजनिक स्थानों पर जाने में संकोच होता है। मैं अपनी प्रेमिका से भी उसके घर के बाहर डेट नहीं कर सकता···

रात-भर मेरी नींद मुझे धोखा देती रही। पता नहीं मैं कैसे-कैसे स्वप्न देखता रहा। किन-किन जानी-अनजानी, होनी-अनहोनी जगहों पर भटकता रहा। लगता था लाखों पिशाच मेरे पीछे पड़े हुए हैं और मैं किसी एक स्थान पर एक क्षण से अधिक रुकने का साहस नहीं कर पा रहा···

सोमवार को समय से तैयार होकर विश्वविद्यालय चला गया।···जो कुछ कहेगी, सुन लूंगा। जब मूर्खता का काम किया ही है तो फिर फटकार सुनने से क्यों कतराऊं। पाप का प्रायश्चित्त करना ही चाहिए। अपराधी को दंड मिलना ही चाहिए।···

कक्षा में दूर से उसे देखा : वह सहज रूप से अपनी फाइल पर झुकी हुई कुछ लिख रही थी। पर तब तक उसने मुझे देखा नहीं था। मेरा असमंजस बढ़ा : जाऊं, न जाऊं ? कुछ कहूं, न कहूं ?···

पर समय को टालने का लाभ ? जो कुछ कहना है, वह तो कहेगी ही। पहले पीरियड के बाद नहीं कहेगी, दूसरे के बाद कहेगी। पर फिर भी अच्छा था कि बात कुछ एकांत में हो। उसकी सखियों के बीच तो यह बात खुलनी ही नहीं चाहिए।

लंच-ब्रेक के बाद वह मुझे अकेली दिखाई दी। मैं स्वयं उसके पास

चला गया, "मैं कल कुछ भ्रम में रहा। तुम्हारे घर चला गया था।"

"मां ने बताया था।" उसका चेहरा निर्विकार ही रहा। कहीं किसी प्रकार की कोई भावना नहीं थी, जैसे कोई विशेष बात हुई ही न हो। जैसे हमारा मिलना न मिलना उसके लिए कोई अर्थ ही न रखता हो। जैसे मारवाड़ी पुस्तकालय में उसका मेरी प्रतीक्षा में परेशान होना और मेरा उसके घर पहुंचकर, यथासंभव इस गोपनीय कार्यक्रम को उद्घाटित कर देना•••उसके लिए किसी चीज़ का कोई अर्थ नहीं था। न सुख, न परेशानी न उपालंभ, न खीझ—कैसी स्थितप्रज्ञ थी मल्लिका भी।

मैं कुछ देर खड़ा रहा, शायद वह कुछ कहे। पर उसे इस संदर्भ में जैसे कुछ कहना ही नहीं था।

जब वहां से टलने के लिए मैं अपना पग लगभग उठा ही चुका था, तब वह बोली, " 'भ्रमरगीत सार' पूरा कर चुके ?"

"हां। क्यों ?" मैंने पूछा।

"मुझे उसके कुछ पद करवा दोगे ?"

"क्यों नहीं !" मेरे भीतर जैसे आनन्द का उत्स फूट आया था।

"बृहस्पतिवार को आ सकते हो ?" उसने मेरी ओर देखा, "यूनिवर्सिटी की छुट्टी होगी, पर तुम्हें कालेज तो नहीं जाना ?"

"नहीं। कालेज नहीं जाना।" मैं बोला, "और जाना भी होगा तो तुम्हारे लिए उसका त्याग कर दूंगा।"

वह मुस्कराई, "महान् त्यागी हो तुम। दस बजे आ जाओगे ?"

"आ जाऊंगा।" मैं बोला, "पर आना कहां है ?"

"मेरे घर। और कहां !" वह झल्लाई।

"तुम्हारे घर जाता हूं तो तुम लायब्रेरी चली जाती हो।"

"तो इस बार मारवाड़ी पुस्तकालय चले जाना।" वह चिढ़ाती हुई बोली, "मैं घर पर तुम्हारी प्रतीक्षा करूंगी।"

इस बार मैं ठीक समय से उसके घर पहुंच गया। दरवाज़ा भी स्वयं मल्लिका ने ही खोला, "आओ।"

"मैं डर रहा था," मैं बोला, "कहीं आज भी···"

"नहीं। आज तुमने नासमझी नहीं की।"

मैं उसके पीछे-पीछे ड्राइंगरूम में आया : सामने कुसुम बैठी थी।

मेरे पैर जैसे अपनी जगह जम गए। मुंह से बोल नहीं फूटा। लगा कि मैं पकड़ा गया।

मल्लिका बोली, "इसे पहचानते हो ? कुसुम है। रामजस से ही है यह भी।"

मैं कुछ कहता, उससे पहले ही कुसुम बोली, "जानते तो हैं, पर हमसे बात करने की इतनी फुर्सत कहां होती है। यूनिवर्सिटी में बातें करने के लिए और कालेजों की लड़कियां कम हैं ? लेडी श्रीराम है, इंद्रप्रस्थ है, मीरांडा है। वहां कहां रामजस याद रहता है।"

उसकी शिकायत ठीक थी। मैं जानता था कि रामजस की अपनी सहपाठी लड़कियों के साथ मेरा अधिक संपर्क नहीं था।

मैंने अपने होश संभाले और पूछा, "क्या यह उपालंभ काव्य है ?"

कुसुम हंसी, "हां। आज वही पढ़ना है न ! सोचा उसका व्यावहारिक अभ्यास भी कर लें।"

"तुम भी पढ़ोगी क्या ?" मैं कुछ चकित था।

"अरे मैंने ही तो मल्लिका को कहा था कि विनीत को बुला लो। उसके साथ बैठकर पढ़ेंगे तो कुछ चीजें स्पष्ट हो जाएंगी।" वह मुस्कराई, "मैंने तुम्हारा लिखा हुआ ट्यूटोरियल देखा था, जिसमें तुम्हें दस में साढ़े सात अंक मिले थे।"

"बड़ी भेदिया हो तुम तो।" मैं बातें उससे कर रहा था, पर देख रहा था कि मल्लिका मुझे यहां बैठाकर गायब हो गई थी। मेरे मन में एक अजान-सा भय समाता जा रहा था कि कहीं ऐसा न हो कि मल्लिका किसी-न-किसी बहाने से इधर-उधर ही रहे और मैं कुसुम को 'भ्रमरगीत सार' पढ़ाता रह जाऊं।···मुझे कुसुम से कोई विरोध नहीं था। पढ़ाने को मैं किसी को भी खुशी से पढ़ा देता था। पढ़ाने में मुझे रस आता था। पर यहां तक पढ़ाने के लिए आने में मल्लिका के पास बैठने और उससे बातें करने का लोभ ही अधिक था···

थोड़ी देर में मल्लिका चाय की ट्रे लेकर आ गई, "मैंने सोचा, पहले अतिथि-सत्कार हो जाए, फिर गोपियों का रोना-धोना।"

"हां। रोने-धोने में फिर खाना-पीना याद नहीं रहता न!" मैंने कहा।

"नहीं! हमें याद रहेगा।" मल्लिका साधिकार बोल रही थी, "तुम्हारे लंच की व्यवस्था कुसुम के घर पर है।" उसका स्वर कुछ धीमा हो गया, "हमारे घर में नान-वेजिटेरियन खाना नहीं बनता।"

"पढ़ाई का लम्बा कार्यक्रम है?" मैंने पूछा।

"जब मास्टरजी को इतनी दूर से बुलाया है तो सोचा, कुछ पढ़ ही लें।" वह बोली।

"कुसुम यहीं रहती है क्या?" मैंने पूछा।

"बस! चार मकान छोड़कर।" कुसुम ने स्वयं उत्तर दिया, "तुम्हें ज़रा भी असुविधा नहीं होगी।"

"नहीं। असुविधा क्या होनी है!" मैंने कहा।

मैं मन-ही-मन लगातार सोचता जा रहा था, 'कमाल है मल्लिका की सावधानी। इस लड़की को बुलाकर बैठा लिया, ताकि हमें आज भी एकांत न मिल सके। वह मुझे इतना बांधकर भी रखेगी कि मैं दूर न जा सकूं, और इतनी दूरी पर भी रखेगी कि मैं पास न आ सकूं।'

खैर! परीक्षा सिर पर थी। वातावरण पढ़ाई का था। यहां मैं आया भी पढ़ाने—या साथ मिलकर पढ़ने, था। आरंभ में कुसुम के कारण थोड़ा संकोच मुझे था, पर दो-एक पद करते-करते मैं गोपियों के उपालंभों में कुछ ऐसा बहा कि कुसुम को भी भूल गया और पढ़ाई को भी। मुझे तो इतना याद रह गया कि मैं था, मल्लिका थी और मल्लिका को सुनाने के लिए मेरे उपालंभ थे। गोपियों के लिए मथुरा राजधानी थी, वहां से जो लोग आते थे, वे चतुर-चालाक और 'समझदार' होते थे।...मेरे लिए यह दिल्ली राजधानी थी। यहां सब लोग चतुर-चालाक और कुछ अधिक ही समझदार थे। प्रेम में, जहां सब अंधे हो जाते हैं, मल्लिका वहां भी सावधान और समझदार थी। मैं तो एक छोटे-से शहर से आया था—जहां इस प्रकार की समझदारी कहीं थी ही नहीं...

"विलग जनि मानहु, ऊधो प्यारे।
यह मथुरा काजर की कोठरि, जे आवहिं तें कारे।।..."

और मल्लिका मेरी बात समझती क्यों नहीं ? मैं निकट आना चाहता हूं और वह है कि ऐसी दूरी बनाए बैठी है।...प्रेम में तो दो मन एक हो जाते हैं। वह मेरे मन की बात क्यों नहीं समझती ?

"हरि काहे के अंतर्यामी ?
जो हरि मिलत नहीं यह औसर, अवधि बतावत लाभी ।।"

वह नहीं जानती कि मैं किस पीड़ा के दौर से गुज़र रहा हूं। कितना भुगत रहा हूं मैं। कुछ कहता हूं तो मुस्कराकर टाल जाती है...

"प्रीति करि दीन्हीं गरे छुरी !"

धीरे-धीरे मुझमें भी जैसे गोपियों की दीनता घर करती जा रही थी। जैसे मैं सूरदास के शब्दों में मल्लिका से कह रहा था कि मैं उसके बिना कितना अकेला होता हूं...

"ऊधो ! हम अति निपट अनाथ !
जैसे मधु तारे की माखी, त्यों हम, बिनु ब्रजनाथ।..."

समय का मुझे पता नहीं चला। लगा, आज तो जैसे मन का संकल्प है कि यह बैठी रहे और मैं कहता रहूं...फिर जाने ऐसा अवसर आए, न आए। आज अपने ही घर में निर्द्वन्द्व वह मेरे सामने बैठी थी और मुझे पूरी स्वतंत्रता थी कि मैं प्रेम के मारे अपने हृदय की दुःखभरी गाथा, अपनी पीड़ा, जिस भी विस्तार से संभव हो, उसे सुनाऊं। वह सुनेगी और पूरे मनोयोग से सुनेगी।...आज किसी भी ओर से कोई खटका नहीं था। उसके परिवार को या किसी और को भी मेरे उसके निकट बैठने और आत्मनिवेदन करने में कोई आपत्ति नहीं थी।...मैं तो उसे पढ़ा रहा था, परीक्षा के लिए उसकी तैयारी में सहायता कर रहा था...

पर बीच में कुसुम का भाई बुलाने आ गया, "आप लोग खाना नहीं खाएंगे क्या ? हम लोग इंतज़ार कर रहे हैं।"

हम लोगों ने पुस्तकें समेट दीं।

कुसुम के भाई से मेरा ध्यान मल्लिका के भाई की ओर चला गया, "मल्लिका ! तुम्हारे भाई दोपहर को घर नहीं आते ?"

"नहीं।" वह बोली, "भाई साहब और पिताजी का खाना दुकान पर ही जाता है। वे लोग सुबह जाते हैं तो फिर रात को ही घर आते हैं।"

"विनीत सचमुच बहुत अच्छा पढ़ाता है।" जाने कुसुम ने अपने भाई के सामने किफायत दी थी या वस्तुतः मेरी प्रशंसा की थी।

"मल्लिका ने भी कुछ कहा या नहीं?" केतकी ने पूछा, "या वह टरखा गई?"

"नहीं। उस दिन मल्लिका ने भी अपनी चुप्पी की बर्फ कुछ तोड़ी थी।" विनीत ने कहा।

"क्या कहा था?"

"बोली, 'कोई अच्छा पढ़ाने वाला मिल जाए तो सचमुच रचना का रूप ही बदल जाता है। मेरा तो भ्रमरगीत की आत्मा से साक्षात्कार ही आज हुआ है।'...मैं गद्‌गद हो गया। मन में आया कि पूछूं, 'देवि! मेरी आत्मा से साक्षात्कार कब होगा?'"

"पूछा था या नहीं?"

"अरे क्या पूछना। कुसुम के भाई साहब सिर पर सवार थे और उन्हें खूब भूख लगी हुई थी। इसलिए हम खाने के लिए चल पड़े।"

"वैसे तुम सचमुच पढ़ाते खूब हो।" केतकी बोली, "बी० ए० में जब कभी तुमसे कोई व्याख्या पूछी, तो जब तुम धाराप्रवाह बोलने लगते थे तो मैं अकसर सोचा करती थी कि आखिर तुमको यह सब सूझता कहां से है। न तो कवि के शब्दों में वह सब है, और न ही किसी अध्यापक ने वह सब बताया है।"

"कविता पढ़ने और पढ़ाने के लिए प्रेम करने वाला हृदय चाहिए मैडम! इश्क को दिल में जगह..."

"पढ़ाते तो तुम सुदर्शना को भी रहे हो।" केतकी की मुस्कान कुछ वक्र हो उठी, "क्या वहां भी इश्क का मामला..."

"राम-राम!" विनीत बोला, "अब रोज क्लास में पढ़ाता हूं। बाईस वर्ष हो गए। तुम पूछोगी, 'वहां भी इश्क का मामला...।'"

"तुम्हारे विद्यार्थी क्या कहते हैं ?" केतकी बोली, "खूब पसंद करते होंगे ?"

विनीत हंसा, "ऐसा है कि कोई प्रशंसा करता है तो हम तक पहुंचा देता है। निन्दा करता है तो वह हम तक पहुंचती नहीं।"

"वैसे क्या पढ़ाते हो—आधुनिक कविता ?"

"कविता का सत्यानाश करने वाले और बहुत हैं।" वह हंसा, "हमें तो गद्य की सेवा का अवसर दिया गया है।"

"गद्य पढ़ाना ज़्यादा कठिन है। उसमें रस पैदा करना तो असंभव ही है।" केतकी बोली, "कविता पढ़ाते हुए पद्य का गद्य तो किया ही जा सकता है। कुछ रस-छंद-अलंकार भी बताए जा सकते हैं।"

"इस बात को हमारे सारे समझदार अध्यापक जानते हैं।" विनीत मुस्कराया।

"वैसे विनीत ! तुमने अपने छात्र-जीवन में भी अपने सहपाठियों को खूब पढ़ाया। उसका कुछ लाभ हुआ ?"

"बहुत।" विनीत बोला, "वे रचनाएं मेरे मन में स्पष्ट हुईं। मेरा पढ़ाने का संकोच खुला। तरह-तरह के प्रश्नों का सामना करने का अभ्यास हुआ। यही कारण है कि आज भी मुझे पढ़ाने में रस आता है, छात्रों की समस्याओं का समाधान करने में मज़ा आता है।"

"ओह !" केतकी ने सहसा घड़ी देखी, "सात बज गए, तुम्हारी प्रीति-कथा सुनते-सुनते।"

"तो क्या हो गया ?"

"मुझे अपने गेस्ट हाउस में लौटना भी तो होगा।"

"लौटना नहीं चाहतीं ?"

"लौटने का मन किसका होगा," केतकी बोली, "उन अपरिचित अन्तर्राष्ट्रीय कार्टूनों के बीच !"

"तो मत लौटो ! आज रात यहीं रह जाओ।"

"सच !" और केतकी ऐसी ललक के साथ उसकी ओर बढ़ी जैसे उसके गले में बांहें डाल देगी; पर उसने स्वयं को संभाल लिया। विनीत के कंधों पर हाथ रखकर बोली, "काश ! मैंने कैनेडा से चलने से पहले

तुमसे संपर्क किया होता। पहले से ही तय होता कि दिल्ली में मैं तुम्हारे ही पास ठहरूंगी। Guest House is not only formal and bore, it is simply disgusting."

"मुझे तुम्हारे आने का पता होता तो मैं ही तुम्हें लिखता कि तुम दिल्ली में हमारे पास ही रुको।"

थोड़ी देर में केतकी अपनी चिंतन-मुद्रा से उबरी। उसकी सहज मुस्कान उसके चेहरे पर लौटी, "रोक तो रहे हो।" वह बोली, "पर तुम्हारी पत्नी को पता चल गया कि तुम्हारे पास तुम्हारी एक बहुत पुरानी सखी आई थी; वह रात को भी यहीं रही थी; और घर में तुम अकेले थे। तो?"

"शोभा मुझे अच्छी तरह जानती है।" विनीत पूरे विश्वास के साथ बोला, "तुम अपनी कहो। डर लगता हो तो गेस्ट हाउस लौट जाओ।"

"जब डर का अवसर था, तब तुमने नहीं डराया तो···"

केतकी बड़े आकस्मिक ढंग से उठकर कमरे से बाहर चली गई।

विनीत को कुछ आश्चर्य हुआ : क्या बात है? अंतिम वाक्य कहते-कहते केतकी का स्वर सचमुच भर्रा आया था···या उसे ही भ्रम हुआ था। पर वह इस तरह से उठकर कमरे से भागी क्यों?···शायद बाथरूम गई हो। पर वह तो आराम से कहकर भी जा सकती थी।···

केतकी लौटी तो लगा कि मुंह-हाथ धोकर आई है। वह सायास मुस्कराई, "कोई तौलिया।"

विनीत ने अलमारी से तौलिया निकालकर दिया।

केतकी ने हाथ-मुंह पोंछकर तौलिया एक ओर लटका दिया, "तुम कुसुम के घर खाना खा रहे हो, तो यहां मैं आज रात के लिए कुछ प्रबंध कर लूं?"

विनीत हंसा, "तुम 21 वर्ष पुराने और आज के जीवन को मिला रही हो।"

लगा, केतकी फिर गंभीर हो गई, "आज मेरी बहुत विचित्र स्थिति है विनीत! पहले सोचा था, तुम्हें नहीं बताऊंगी। तुमसे छिपा जाऊंगी। पर अब सोचती हूं कि छिपाने को इसमें क्या है। मानव-मन ही तो है।

जाने कब-कब, कहां-कहां और कैसे-कैसे जीता है। देश और काल इसमें कोई अर्थ रखते हैं क्या? यह मैंने आज ही जाना है कि मानव का मन द्रवित हो जाए—चाहे किसी भी कारण से हो जाए तो वह तरल होकर अनेक देशों और कालों में विभिन्न वेव-लेंग्थ में एक साथ जीने लगता है···।"

विनीत कुछ नहीं बोला।

केतकी ही बोली, "मैं यहां तुम्हारे साथ हूं तो जाने किस विचित्र प्रक्रिया से किसी सूक्ष्म रूप में कैनेडा में डेविड के साथ भी हूं। देशों का इतना बड़ा अंतराल इसमें कोई बाधा नहीं डाल पा रहा। फिर मैं इस क्षण, यहां दिल्ली में तुम्हारे साथ, तुम्हारे घर में हूं और तुम्हारी प्रीति-कथा की नायिका मल्लिका के साथ इक्कीस वर्ष पूर्व ही नहीं, उससे भी दो-तीन वर्ष पहले जमशेदपुर में कालेज के दिनों को भी साथ-साथ जी रही हूं।"

"इतनी जगहों पर एक साथ मत जियो।" विनीत हंस पड़ा, "बहुत बिखर जाओगी।"

"मैं जानती थी, तुम मेरी भावुकता का मज़ाक उड़ाओगे।"

"मैं भावुकता का मज़ाक उड़ा सकता हूं, पर भावना का नहीं।" विनीत गंभीर हो गया था, "अच्छा! रात का खाना मैं खिलाऊं तुम्हें। यदि कुछ हल्का-फुल्का खाने की इच्छा हो।"

"खाना तो हल्का ही है। दोपहर को कुछ ज़्यादा ही खा गई मैं—लालच में।"

"यही सोच रहा था मैं भी।" विनीत ने उत्तर दिया, "मैं तुम्हारे लिए वेजिटेब्ल सूप बना सकता हूं। ढेर सारा सलाद काट सकता हूं और स्वीट डिश के रूप में फलों की प्लेट तैयार कर सकता हूं। बाद में चाहो तो कॉफी पी लेंगे।"

"That will do." केतकी बोली, "तो डिनर बनाने की ज़रूरत नहीं है। अब प्रीति-कथा···।"

लगभग संध्या समय हमने भ्रमरगीत का पाठ्यक्रम समाप्त किया। मैं विदा लेने के उपक्रम में लगा था कि मल्लिका चाय ले आई।

चाय के साथ ही उसने सूचना दी, "हम सब सहेलियों ने तय किया है कि हम कल से यूनिवर्सिटी नहीं जाएंगे। कोर्स लगभग हो ही चुका है। अब सिवाय मटरगश्ती के वहां और कुछ नहीं होगा। इससे तो अच्छा है कि घर बैठकर हम परीक्षा की तैयारी करें।..."

मेरी खोपड़ी में जैसे जोर का धमाका हुआ।...अब, जब मैं यह समझ रहा था कि उसके साथ अधिक समय बिताने का मार्ग खुल रहा है, वह यूनिवर्सिटी ही नहीं जाएगी...फिर उससे भेंट...उसने पढ़ाई का कार्यक्रम बनाया होता, मैं कल-परसों फिर आ जाता, कोई और पेपर इकट्ठे कर लेते, कोई और पुस्तक एक साथ पढ़ लेते...सीधे सूचना दे दी कि वह विश्वविद्यालय ही नहीं जाएगी...जो संक्षिप्त भेंट हो जाती थी; उसे देख लेता था; उससे दो-चार बातें हो जाती थीं,...सब कुछ समाप्त।...

मेरी समझ में नहीं आया कि मेरे भाग्य में ही कोई दोष है या मल्लिका की कार्य-पद्धति की विशिष्टता है कि जब मैं स्वयं को उसके कुछ निकट पाता हूं और सोचता हूं कि मैं पहाड़ की चढ़ाई चढ़ आया हूं और आगे 'अति सूधो सनेह को मारग है', वहीं से वह कुछ-न-कुछ ऐसा कर देती है कि लगता है कि आगे कोई मार्ग ही नहीं है। जब मैं अपने-आपको राज-मार्ग पर पाता हूं, जाने कैसे वह अपने किसी जादू से मुझे किसी अंधी गली में खड़ा कर देती है।

मैं होस्टल लौटा तो दिन-भर मल्लिका के साथ बिताने की प्रसन्नता कम, कल से भेंट न हो सकने का त्रास अधिक हो रहा था। मैंने अपने कमरे में आकर पुस्तकें मेज़ पर पटकीं, दरवाज़ा भीतर से बंद किया और पलंग पर औंधा लेट गया। जाने मुझे क्या हुआ कि लगा, अब जीवन में मेरे लिए कोई आशा नहीं है, कोई प्रसन्नता और खुशी नहीं है। भविष्य में बस अंधेरा ही अंधेरा है, निराशा ही निराशा है...और जाने क्यों मुझे लगा कि मेरे शरीर में से जैसे सारी ऊर्जा किसी ने निचोड़ ली है। अब मेरे शरीर

में एकदम प्राण नहीं हैं। इतने भी नहीं कि मैं अपना हाथ हिला सकूं, या मैं सीधा होकर लेट सकूं···

जाने मैं कव तक ऐसे ही पड़ा रहा और फिर जैसे वैज्ञानिक आविष्कार के समान मेरे मन में यह वात कौंधी कि मैं अपने हाथ हिलाकर तो देखूं, कि हिला भी सकता हूं या नहीं।···

मैंने अपना हाथ हिलाया। मैं हाथ हिला सकता था। मैंने करवट वदली। सीधा हुआ और फिर उठकर वैठ गया···

मान लो कि निकट भविष्य में मल्लिका से भेंट नहीं होगी। कोई वात नहीं। महीने-दो महीने वाद तो होगी। परीक्षा देने तो आएगी ही न ! फिर इतना निराश होने की क्या वात है ? परीक्षा तक मुझे भी पढ़ना चाहिए। अच्छी तैयारी होगी, अच्छे अंक आएंगे, अच्छी नौकरी मिलेगी। दिल्ली विश्वविद्यालय के किसी कालेज में लैक्चररशिप मिल गई तो मैं अधिक विश्वास के साथ उसके सामने विवाह का प्रस्ताव रख सकूंगा···

विवाह···मैं विवाह की वात सोच रहा था···पर क्या एक वार भी मैंने उससे विवाह की चर्चा की थी···विवाह तो विवाह, कभी प्रेम का शब्द भी आया मेरी जिह्वा पर···यह न हो कि मैं तो अपने मन में प्रेम और विवाह के संकल्प करता रहूं, और समय आने पर वह कह दे कि उसके मन में तो ऐसा कुछ था ही नहीं। वह तो मात्र एक सहपाठी मानकर मुझसे वातचीत कर रही थी।

जाने क्यों मुझे लगने लगा कि अव समय आ गया है कि हमारे संवंधों का स्वरूप स्पष्ट हो जाना चाहिए। न वह किसी भ्रम में रहे, न मैं अपने मन में कोई भ्रम पालूं।···अव परीक्षा तक, महीना-भर वह यूनिवर्सिटी नहीं आएगी। फिर परीक्षाएं आरंभ हो जाएंगी, तो किसको मिलने-जुलने का, प्रेम और विवाह का होश रहेगा !···और परीक्षाओं के वाद, हो सकता है वह कहीं सैर करने चल दे, किसी रिश्तेदार के पास छुट्टियां विताने चली जाए और मैं अपना सामान वांधकर जमशेदपुर लौट जाऊं। वहुत संभव है, उसके वाद मेरा दिल्ली लौटना ही न हो ! जाने मुझे कहां नौकरी मिले।···जाने इन छुट्टियों में उसका विवाह ही हो जाए। चंदा का विवाह तो पिछली छुट्टियों में ही हो गया था। और भी तो कई लड़कियां

इस वर्ष में ही, मांग में सिंदूर डालकर कक्षा में आने लगी हैं। कई तो फिर कक्षा में लौटीं ही नहीं···सिंदूर उनके लिए माइग्रेशन सर्टीफिकेट हो गया। मैं परीक्षा में अच्छे अंक लेने की तैयारी करता रहा और इधर जीवन ही श्मशान हो गया तो ?···

यह विचार मन में जड़ पकड़ता ही गया। मुझे अब तक की अपनी असावधानी बहुत खली···यह सब तो मुझे बहुत पहले ही सोचना चाहिए था। मैं सुंदर भविष्य के स्वप्न ही देखता रहा, उसे साकार करने के लिए कोई कर्म कभी नहीं किया।

पर अब यह कैसे संभव था ?···

दो-चार दिन बीतते-बीतते मुझे लगा, मल्लिका से न मिल पाने की निराशा और उससे मिलने की उत्कंठा मुझमें इतनी तीव्र हो उठी है कि मेरा ध्यान और किसी बात में लग ही नहीं रहा था। उस समय, जबकि मेरे सारे सहपाठी परीक्षा में आकंठ डूबे हुए थे, मेरा ध्यान अपने पाठ्यक्रम की ओर था ही नहीं। यदि यह ऐसे ही चलता रहा या मेरा मन और भी उदास होता गया, मेरी पढ़ाई छूटती गई और परीक्षाफल खराब हो गया, अच्छी नौकरी न मिली तो मल्लिका से विवाह की बात किस मुंह से करूंगा। विचित्र स्थिति थी मेरी। मल्लिका को पाने के लिए पढ़ाई आवश्यक थी और उसे पाए बिना पढ़ाई में ध्यान लग नहीं पा रहा था···ऐसे तो मैं दोनों ओर से ही जाऊंगा···

तभी मुझे त्रिपाठी मिल गया।

"कैसी चल रही है पढ़ाई ?" मैंने पूछा।

"अभी ज़रा सीरियसली शुरू की नहीं है।" वह मुस्कराकर बोला।

"क्यों ?" मैं हैरान हुआ, "अब देर ही कितनी है परीक्षा में ?"

वह मुस्कराया, "परसों एक नाटक है। ममता नायिका का रोल कर रही है। अभी तो उसकी सहायता में लगा हूं। वह निबट जाए तो पढ़ाई में लगूं।"

"उसका नाटक न बिगड़े, चाहे तुम्हारा परीक्षाफल बिगड़ जाए।" कह नहीं सकता, मेरे स्वर में आश्चर्य था या विरोध।

"एक मेरी परीक्षा है, एक उसकी।" वह मुस्कराया, "सहयोग का तो

अर्थ यही है न कि वह मेरी सहायता करे, मैं उसकी।"

विचित्र व्यक्ति है—मैंने सोचा—पर विचित्र तो उसको होना ही था। प्रेमी जो ठहरा!

"तुम आओ न परसों—नाटक देखने।" वह बोला, "ममता ने कहा है कि मैं अपने मित्रों को आमंत्रित करूं। तुम्हारे लिए तो विशेष रूप से कहा है।"

"ये भी कोई नाटक देखने के दिन हैं!" मैंने उसे टालना चाहा, "अभी तो परीक्षा का भय रक्त चूस रहा है।"

"वह तो चूसेगा ही—नाटक देखो या न देखो।" वह बोला, "दिन-भर पढ़ो। शाम को कमला नगर की सैर मत करो, नाटक देख लो।" और सहसा उसका स्वर बदल गया, "कहो तो मल्लिका को भी बुला लूं•••।"

मैं चौंका, "क्या यह संभव है?"

"संभव क्यों नहीं है!" वह हंसा, "ममता स्वयं उसके घर जाएगी और छपा हुआ निमंत्रण-पत्र दे आएगी। कहो तो यह भी कहलवा दूं कि तुमने बुलाया है।"

मुझे कुछ गुदगुदी-सी हुई, "पिटोगे। ऐसी बात करोगे तो।" और सहसा मुझे एक योजना बनती दिखाई दी, "यदि तुम उसे वहां बुला लो तो न केवल मैं नाटक देखने आऊंगा; बल्कि तुम्हारा एहसान भी मानूंगा।"

"तो एहसान मान लो।" वह बोला, "हम उसे वहां बुलवा ही नहीं लेंगे, तुमसे मिलवा भी देंगे।"

"बहुत आश्वस्त मत रहो।" मैं बोला, "वह आजकल पढ़ाई में लगी हुई है। क्लास में भी नहीं आ रही, नाटक देखने क्या आएगी।"

"चाहो तो शर्त लगा लो।"

"शर्त तो है ही।" मैं हंसा, "वह आएगी तो मैं भी आऊंगा।"

"तो वह आएगी।" वह हंसा, "त्रिपाठी की बात पत्थर की लकीर होती है।"

त्रिपाठी चला गया तो मैंने अपने कमरे का दरवाजा बंद कर दिया। अपनी मेज पर से पुस्तकें समेट दीं।•••

यदि त्रिपाठी अपनी बात का धनी निकला और उसने मल्लिका को वहां बुला लिया तो यही एकमात्र अवसर है, मेरे लिए कि मैं उससे दो बातें कर लूं। पर क्रमशः या धीरे-धीरे बढ़ने का समय नहीं है अब। अब तो प्रेम-निवेदन भी कर दूं, विवाह की बात भी कर लूं, उसकी स्वीकृति-सहमति भी ले लूं। सारा कुछ एक ही झटके में करना पड़ेगा···पर कैसे ?

मैं उठकर कमरे में टहलने लगा, उधर से इधर, इधर से उधर, एक दीवार से दूसरी दीवार तक। पर दीवारें भी क्या ऐसे सरकती हैं ! कहीं कोई मार्ग दिखाई नहीं दे रहा था। लगा, टहलते-टहलते जैसे पैर थक गए और सिर भन्नाने लगा···

पर अंत में एक उपाय सूझ ही गया···क्यों न उसे पत्र लिखूं। पत्र में सारी बातें लिख दूं और उसका उत्तर मांगूं। विस्तार से बातचीत का एकांत अवसर मिले, न मिले; पर पत्र पकड़ाने के लिए कोई क्षण तो मिल ही जाएगा। वहां पढ़ सकेगी तो पढ़ लेगी, नहीं तो घर जाकर शांति से पढ़ लेगी···

पर पत्र के साथ जोखिम जुड़ा हुआ था। पत्र किसी और के हाथ पड़ गया तो ? तो क्या ? कोई क्या कर लेगा मेरा ? पीटेंगे मुझे या हत्या कर देंगे ?···एक बार तो सिर पर शहीदी मुद्रा सवार हो गई। कर देंगे हत्या तो कर दें। ऐसे सिसक-सिसक और झुलस-झुलसकर मरने से तो अच्छा है कि एक बार वे मार ही डालें···पर यह मुद्रा अधिक देर तक नहीं निभी। मैं मरना नहीं चाहता था, उसे प्राप्त करना चाहता था। और मरकर उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता था···

दूसरे ही क्षण मन में एक और विचार आया। मैं उसे पत्र नहीं लिखूंगा। मैं बहनजी को पत्र लिखूंगा···

काग़ज़-कलम लेकर मैं लिखने बैठ गया :

69, रामजस कालेज होस्टल
दिल्ली-6
4.4.1963

प्रिय बहनजी,

आपको याद होगा, पिछली गर्मियों में जब मैं जमशेदपुर आया था,

तो आपसे मैंने कहा था कि मैं अपने प्रेम-प्रसंग के संदर्भ में आपको कुछ विशेष बातें बताना चाहता हूं; पर अवसर की प्रतीक्षा में हूं।

अब समय आ गया है कि मैं आपको सारी बातें बता दूं। मैं अपनी एक क्लासमेट मल्लिका से प्रेम करता हूं और उससे विवाह करना चाहता हूं। यह केवल मेरी इच्छा नहीं है, इसमें उसकी भी पूर्ण सहमति है।

आप पिताजी को किसी भी प्रकार इस बात के लिए तैयार रखें। मैं चाहूंगा कि नौकरी मिलते ही मेरा विवाह हो जाए।

ठीक होंगी।

आपका;
विनीत

श्रीमती धवला
ए-28, एग्रिको, जमशेदपुर-9

इस पत्र के मैंने कई प्रारूप तैयार किए। काट-छांट की, पर इससे अधिक कुछ नहीं कर सका। पत्र को अच्छी तरह तह कर, एक सुंदर-से लिफाफे में डालकर, उसे मैंने अपनी फाइल में रख लिया।

उसके बाद से शायद त्रिपाठी और ममता को नाटक की उतनी उत्सुक प्रतीक्षा रही हो, न रही हो; मैं उद्ग्रीव उसकी राह देख रहा था।··· मल्लिका को पत्र सौंपने, उसके द्वारा पत्र पढ़े जाने और उसकी प्रतिक्रिया के जाने कैसे-कैसे दृश्यों की मैंने कल्पना की।···और उन सारी कल्पनाओं के पश्चात् एक ही प्रश्न उमड़-घुमड़कर मन में हलचल मचा देता था : यदि मल्लिका नाटक देखने आई ही नहीं, तो ?

"वह आई या नहीं ?" केतकी ने पूछा, "प्लीज़ ! पहले ही बता दो। वह आई क्या ?"

"हां। वह आई।" विनीत मुस्कराया।

"ओह ! थैंक गाड !"

"मेरे लिए भी वह सुखद आश्चर्य ही था।"

"फिर ?"

वह मिली तो उसके साथ सावित्री थी। मैं चौंका। थोड़ा घबराया भी। यदि वह उसके साथ चिपकी रहेगी तो मैं कब बात करूंगा ? पर, उस दिन मल्लिका बहुत खुलकर मिली, जैसे सावित्री के साथ होने से उसे कोई फर्क न पड़ता हो।

बोली, "तुम बहुत परेशान कर रहे हो।" पर वह इतनी खुलकर मुस्करा रही थी कि उसकी परेशानी मेरी समझ में नहीं आई।

"क्या किया मैंने ?"

"ऐसे बुलाते रहोगे तो पढ़ाई कब करूंगी ?" वह बोली, "रिजल्ट खराब हो गया तो तुम ही शिकायत करोगे।"

"नहीं करूंगा।" मैंने उसे आश्वस्त किया, "हमारे समझौते में रिजल्ट की कोई शर्त नहीं है।"

"पक्का ?"

"पक्का।"

"अच्छा ! बताओ, क्यों बुलाया मुझे ?" वह कुछ तुनुकने का अभिनय कर रही थी।

एक ओर तो मुझे खीझ चढ़ी···क्या लड़की है। हर समय, हर बात अभिधा में···पर दूसरे ही क्षण लगा, यह बहुत ही उपयुक्त अवसर है मेरे लिए।

मैंने पत्र निकाला, "यह पत्र मैंने बहनजी को लिखा है। सोचा पोस्ट करने से पहले तुम्हें भी दिखा दूं और तुम्हारी राय ले लूं।"

मैंने पत्र उसकी ओर बढ़ाया।

पत्र खोलकर उसने पढ़ना आरंभ किया।···सावित्री ने पत्र के संदर्भ में कोई विशेष उत्सुकता नहीं जताई। वह शायद मल्लिका के घर वालों के संतोष के लिए ही साथ आई थी कि मल्लिका अकेली नहीं गई थी। वैसे भी लौटते हुए अंधेरा हो ही जाना था। साथी तो उसे कोई चाहिए ही था।

मल्लिका ने पत्र पढ़कर तह किया और चुपचाप मुझे लौटा दिया। उसने न कोई विरोध किया, न प्रतिवाद। किंतु मैं मौन मात्र को स्वीकृति मानकर किसी भ्रम में नहीं रहना चाहता था। पूछा, "ठीक है ? भेज दूं पत्र ?"

"भेज दो।" वह सहज भाव से बोली।

मन में आया, उसे बांहों में भर लूं : इतना सुख ! इसकी तो मुझे कल्पना ही नहीं थी। पांव जैसे धरती पर पड़ ही नहीं रहे थे। मन में आता था कि चिल्लाता हुआ बाहर सड़क पर निकल जाऊं और सारे शहर में तूफान बरपा कर दूं, 'मल्लिका ने अपनी स्वीकृति दे दी है।'

इंग्लैंड की संसद ने जब भारत की स्वतंत्रता के लिए अपनी स्वीकृति दी थी तो शायद सारे देश में प्रसन्नता का इतना बड़ा तूफान नहीं उठा होगा, जितना मल्लिका की स्वीकृति से अकेले मेरे मन में उठा।

"तुम्हारी तैयारी कैसी चल रही है ?" वह मुझे वर्तमान में खींच लाई।

"ठीक ही है।" मैं बोला।

"याद रखना। यूनिवर्सिटी में टाप करना है। याद है न ?"

"याद है।"

"और अब पढ़ाई में मन लगाओ। बार-बार मिलने का प्रयत्न करते रहोगे तो पढ़ाई में मन नहीं लगेगा। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है।"

"ठीक कह रही हो, मनोविज्ञान पंडिता।" मैंने स्वीकार किया, "पर कुछ सत्य साहित्य का भी है।"

"क्या ?"

"अति सूधो सनेह को मारग है, इहां नैकू सयानप बांक नहीं।..."

"साहित्य के सत्य को कुछ दिनों के लिए स्थगित कर दो।" वह बोली, "जीवन के तथ्यों को देखो। साहित्य का सत्य तुम्हारा भविष्य नहीं बना पाएगा। उसके लिए मनोवैज्ञानिक तथ्यों का ही ध्यान रखो।..."

प्रेम और विवाह की स्वीकृति के बाद विवाद में उलझना सुखद नहीं था। यद्यपि गालिब की पंक्तियां मेरे मस्तिष्क की दीवारों से अपना सिर मार रही थीं :

> "यह कहां की दोस्ती है कि बने हैं दोस्त नासेह !
> कोई चारासाज होता, कोई गमगुसार होता।"

यह हमें हॉल में जाकर ही पता चला था कि आज ममता के नाटक का मंचन नहीं, फाइनल ड्रेस रिहर्सल मात्र था। इसलिए [illegible] में

बुलाए गए पच्चीस-तीस व्यक्ति ही उपस्थित थे। सारा हॉल खाली पड़ा था। जो लोग उपस्थित थे भी, वे नाटक से ही संबंधित थे। हमारा परिचित उनमें कोई नहीं था। इसलिए मल्लिका को मेरे साथ बैठकर नाटक देखने में कोई संकोच भी नहीं हुआ। हम लोग एक कोने में बैठे नाटक देखने का अभिनय करते रहे। बहुत धीमे स्वर में हम लगातार बातचीत करते रहे। यह अहसास मुझे बाद में हुआ कि बातें हम नहीं कर रहे थे, मैं ही कर रहा था। मल्लिका बहुत कम बोल रही थी। वैसे भी वह कम ही बोला करती थी…आज उसी की स्वीकृति पा जाने के बाद मेरे मन में जैसे ऊर्जा का लावा फूटा था। तब मुझे पता ही नहीं चला कि लगभग सारा समय मैं ही बोलता रहा और वह हूं-हां ही करती रही।

आज मुझे याद भी नहीं है कि उस दिन मैं क्या-क्या बोलता रहा…

"तुम उसे समझाते रहे होगे कि तुमसे विवाह कर वह कितने लाभ में रहेगी।" केतकी वक्रता से मुस्कराई।

"नहीं।" विनीत पूरी गंभीरता से बोला, "मुझे तब तक बिल्कुल अंदाज़ा नहीं था कि मुझसे विवाह कर कोई लड़की इतने लाभ में रहेगी।"

"तुमने उसे यह नहीं बताया कि तुम एक बहुत महान् लेखक बनने वाले हो और तुमसे विवाह कर वह विश्व-प्रसिद्ध व्यक्ति हो जाएगी। तुम्हारी जीवनियां लिखी जाएंगी तो उनमें उस पर चैप्टर्स के चैप्टर्स लिखे जाएंगे। उसके ढेरों चित्र छपेंगे। आलोचक लोग उसके विचार जानना चाहेंगे…।"

"यह सब सोचा भी होता तो उससे कहा न होता।"

"क्यों ?"

"क्योंकि अपनी समझ से मैं उससे प्रेम कर रहा था, भाव-तौल नहीं।"

"Every thing is fair in love and war."

"Only love is fair in love." विनीत बोला, "वैसे तो युद्ध भी पतित होकर नहीं लड़ना चाहिए; पर उसमें तो मैं फिर सहमत हो सकता

हूं कि यह युद्ध है। पर प्रेम में तो कुछ अनुचित होना ही नहीं चाहिए।" वह रुका, "तुम मुझे जानती हो केतकी ! यदि मैंने अपने विषय में उसे कुछ बताया होगा, तो यही बताया होगा कि मेरा परिवार बहुत साधारण परिवार है। अति सामांन्य। एक सीमा तक गरीब ही। यह भी बताया होगा कि अपने परिवार में एम० ए० करने वाला मैं पहला व्यक्ति हूं···।"

"यानी डराने वाली सारी बातें बताई होंगी।"

"हां। यह अवश्य याद है कि उन पत्रिकाओं के वे सारे अंक उसे ज़रूर दिए थे, जिनमें उन दिनों मेरी कहानियां छपी थीं।"

"उसकी क्या प्रतिक्रिया थी ?"

"उसने मेरी कहानियों के विषय में कभी एक शब्द भी नहीं कहा।" विनीत बोला, "मैंने कहा न, घुन्नी थी।"

"तुमने कभी उसकी राय नहीं मांगी ?"

"राय जानने को उत्सुक नहीं था मैं। प्रशंसा सुनने की इच्छा थी, वह भी प्रयत्न करके नहीं।"

"खैर ! फिर ?"

नाटक के बाद वह चली गई। मेरी बहुत इच्छा थी कि मैं उसे छोड़ने उसके घर तक जाऊं, पर उस दिन जाने इतना संकोच मेरे मन में कहां से आ गया था। शायद, स्वीकृत संबंधों को गोपनीय ही रखना चाहता था, या उसकी स्वीकृति के कारण जो उल्लास मेरे मन में था, उसका मद इतना घनीभूत था कि उसे मन ही मन पीता रहना चाहता था। वह बाहर छलक न जाए—उसके लिए सावधान था।···

उस दिन के पश्चात् हमारा अखंड विरह आरंभ हुआ।···फिर उससे भेंट नहीं हुई। हृदय में टीस थी और मस्तिष्क में परीक्षा का आतंक। परीक्षा आरंभ होने से दो-तीन दिन पहले आर्ट्स फैकल्टी की सीढ़ियों पर दिख गई थी। पर जब तक मैं होश संभालता, वह 'यूनिवर्सिटी में टाप करना है तुम्हें' कहकर और अपनी मुस्कान से मेरी आत्मा तक को नहलाकर चली गई।

परीक्षाएं आरंभ हुईं और मन-आत्मा सब उसी में मग्न हो गए। हो सकता है कि उन दिनों कभी आमना-सामना भी हुआ हो, पर मुझे अब कुछ याद नहीं है। याद केवल इतना है कि पर्चे समाप्त होते ही मेरी जमशेदपुर जाने की तैयारी आरंभ हो गई। पर इस बीच मल्लिका की एक झलक तक दिखाई नहीं दी। उसके घर तक अपने-आप चले जाने का मैं साहस नहीं कर सकता था और यूनिवर्सिटी में वह दिखाई नहीं पड़ रही थी।

अंत में मैंने जोखिम की बात सोची। त्रिपाठी को उस तक एक पत्र ले जाने के लिए तैयार किया। त्रिपाठी मान गया। वह तो संसार-भर के प्रेमियों का सेवक था।···पर स्वयं उसके घर तक जाने की मैंने कल्पना भी नहीं की। क्यों ? आज कुछ समझ नहीं पाता हूं।···

मैंने पत्र में लिखा कि मैं अब जमशेदपुर जा रहा हूं। भविष्य में जाने क्या हो। चाहता हूं कि जाने से पहले उससे मिलकर अपने भविष्य का कुछ निर्णय कर जाऊं।···वह अगले दिन प्रातः दस बजे यूनिवर्सिटी के स्टाप पर मिल जाए तो हम अगला कार्यक्रम बना लें। मैंने यह भी लिखा कि यदि किसी कारणवश वह अकेली नहीं आ सकती तो चाहे सावित्री को अपने साथ ले आए। यह भेंट अनिवार्य है।

अगले दिन वह ठीक समय पर यूनिवर्सिटी के स्टाप पर आ गई। सावित्री उसके साथ थी।

हम रजिस्ट्रार आफिस के पीछे वाले कॉफी हाउस में आ बैठे।

"कहो।" उसने मेरी ओर देखा।

"मुझे कुछ आवश्यक बातें करनी हैं।"

"करो।"

मेरी समझ में नहीं आया कि क्या कहूं और किन शब्दों में कहूं। न चाहते हुए भी अंत में अंग्रेजी का सहारा लिया, "I love you. Do you love me ?"

वह चुपचाप बैठी हुई मुझे देखती रही। पर मेरे भीतर जैसे वाष्प भरता जा रहा था। मैं बहुत ही आवेश में था।

"मुझे 'हां' या 'ना' में स्पष्ट उत्तर चाहिए।" मैं बोला, "मैं अब और

आंख-मिचौनी नहीं खेल सकता।…और यदि 'हां' कहती हो तो खुलकर सामने आना होगा। प्रेम का प्रमाण देना होगा। प्रेम करना और दूर रहना—दोनों बातें मुझे सह्य नहीं हैं।"

उसने मुझे देखा, "क्या प्रमाण चाहते हो?" और फिर स्वयं ही बोली, "प्रमाण देना संभव नहीं भी हो सकता।"

"तुम यह तो कहो कि तुम मुझसे प्रेम करती हो।"

वह मुझे देखती रही, कुछ बोली नहीं।

उसकी चुप्पी से मेरी खीझ बढ़ती रही। उस समय मैं प्रेम की अभिव्यंजना समझने को तैयार नहीं था।…मेरा आवेश इतना बढ़ा कि जैसे उत्तर उगलवाना ही है—चाहे पुलिस वालों के समान थर्ड डिग्री का ही प्रयोग क्यों न करना पड़े। उसकी गर्दन मैं पकड़ नहीं सकता था। पकड़ सकता तो शायद पकड़ लेता। क्षोभ में और कुछ नहीं सूझा तो मेज़ के नीचे चप्पलों में लिपटे उसके पैर पर मैंने अपने बूट का पंजा रख दिया। हल्के से दबाया, "बोलो।"

"मेरा पैर छोड़ो।" वह बोली।

"तुम पहले 'हां' कहो।" हठ ने ज़ोर पकड़ा।

उसने झटके से अपना पैर खींच लिया, "मेरे घर वाले इस विवाह के लिए नहीं मानेंगे।"

"मैं मनाऊंगा उन्हें।" मैंने कहा।

"वे नहीं मानेंगे।" वह फिर बोली।

"वे न भी मानें…हमारा विवाह न भी हो।" मैंने कहा, "मुझे यह संतोष तो होगा कि कोई मुझसे प्यार करता है। यह पीड़ा तो नहीं सालेगी कि कोई लड़की मुझसे फ्लर्ट करती रही, मुझसे खेलती रही, मुझे मूर्ख बनाती रही; और मैं मूर्ख बनता रहा।"

"इसमें फ्लर्ट करने की बात कहां से आ गई?"

"नहीं तो कहो 'हां'।"

वह कुछ नहीं बोली।

"'हां' नहीं कह सकती तो 'ना' कह दो।" मैंने आग्रह किया, "मुझे आज फैसला करना ही है। इस पार या उस पार।"

वह फिर कुछ नहीं बोली।

" 'ना' कह दो।" मैंने पुनः कहा।

"मैं 'ना' नहीं कह सकती।"

मैं उसके 'न' के इंकार को भी 'हां' मानकर संतुष्ट नहीं हो सका। मैं द्वन्द्व से जैसे बहुत परेशान हो चुका था। उन्माद की-सी स्थिति थी मेरी। सारा आवेश छलककर मेरे सिर में चढ़ गया। मेरा विवेक मेरे वश में नहीं रहा। मैं आविष्ट स्वर में बोला, "तुम 'न' नहीं कह सकतीं तो मैं कह रहा हूं 'ना'। मैं तुमसे सारे संबंध तोड़ रहा हूं। भविष्य में कभी तुमसे मिलने की कोई कोशिश नहीं करूंगा।" तैश में मैंने अपना पर्स निकाला और उसमें एक सिरे पर लगाया हुआ उसका चित्र निकालकर उसके सामने मेज़ पर रख दिया, "यह लो अपना चित्र और मेरे पत्र, जो तुम्हारे पास हैं—मुझे लौटा देना।"

वह आश्चर्य से कभी मुझे देख रही थी, कभी अपने चित्र को।

"कहां से मिला तुम्हें यह ?"

मैंने कोई उत्तर देना आवश्यक नहीं समझा। काउंटर पर जाकर पैसे चुकाए और चुपचाप बाहर निकल गया।

विनीत ने केतकी को देखा, "इतनी ही है मेरी असफल प्रीति-कथा।"

"धोखेबाज़ !" केतकी ने जैसे उच्छ्वास छोड़ा, "अब क्या सोचते हो उसके विषय में—वह तुमसे प्रेम करती थी ?"

"मेरे सोचने के अनेक दौर रहे हैं।" विनीत बोला, "जिस समय मैं उससे लड़कर अलग हुआ था, उस समय मैं कुछ सोच रहा था। जब मैं बहुत परेशान और असहाय-सा दिल्ली लौट आया था, तब मैं कुछ और सोचता था। जब मेरी नौकरी लग गई और शोभा से मेरा रोमांस चल रहा था, तब मैं कुछ और सोच रहा था। तुम्हें यह सारी कथा सुनाने से पहले मेरे मन में कुछ और था और यह सारी केस-हिस्ट्री तुम्हारे सामने रखने के बाद मैं कुछ और सोच रहा हूं।" वह रुका, "मैंने सारे तथ्य तुम्हारे सामने धर दिए हैं। तुम बताओ। तुम्हारा निर्णय क्या है—क्या

वह मुझसे प्रेम करती थी ?"

"वह तुमसे प्रेम नहीं करती थी ।" केतकी बोली, "पर शायद यह कहना ज़्यादा सही होगा कि वह तुम्हें पसंद करती थी; किंतु अपने व्यवहार में बहुत सावधान थी । नागर कन्या थी न, दिल्ली की छोकरी । कोई भी जोखिम नहीं उठाना चाहती थी । तुम्हें फंसाए रखना चाहती थी, तब तक, जब तक तुम्हारा रिज़ल्ट नहीं आ जाता या तुम्हारी नौकरी नहीं लग जाती ।" केतकी ने रुककर उसे देखा, "मैं समझती हूं कि यदि तुमने अपना नाता न तोड़ा होता । तुम वैसे ही जमशेदपुर लौट आए होते । रिज़ल्ट निकलने पर दिल्ली जाते । नौकरी प्राप्त कर लेते और फिर । मल्लिका के पास जाते तो शायद न केवल वह तुम्हें अपने प्रेम का प्रमाण देती, बल्कि यह भी बताती कि छुट्टियों में तुम्हारे विरह में कितना तड़पती रही है ।"

"तो तुम्हारा विचार है कि वह मेरी नौकरी की प्रतीक्षा में थी ?"

"वह अपने भविष्य की आर्थिक सुरक्षा की प्रतीक्षा में थी ।" केतकी बोली, "दिल्ली की लड़कियां प्रेम भी करती हैं तो सुरक्षित भविष्य को अपने हाथ से नहीं छोड़तीं ।" सहसा रुककर केतकी ने जैसे चुनौतीभरी दृष्टि से विनीत की ओर देखा, "तुम स्वयं किस निष्कर्ष पर पहुंचे हो ?"

विनीत की मुद्रा अत्यन्त शांत थी । अपनी प्रीति-कथा सुनाकर उन सारी घटनाओं का पुनरावलोकन कर, उन संवेदनाओं और वेदनाओं से गुज़र, उसके घाव जैसे छिले नहीं थे । वह क्षुब्ध नहीं हुआ था । उसका तो जैसे विरेचन हो गया था । वह सहज भाव से मुस्कराया, "पहले मैं सोचता था उसके विषय में : वह मुझसे प्रेम करती थी या नहीं ? प्रेम करती थी तो उसके प्रेम का स्वरूप क्या था ? नहीं करती थी तो आखिर उसने मुझसे यह खेल क्यों खेला ?"

"फिर क्या सोचा तुमने ?"

"फिर मैंने उसके विषय में सोचना बंद कर दिया ।" विनीत की शांति जैसे कुछ और गहरी हो गई, "मैं अपने विषय में सोचने लगा । मेरे लिए यह ज़्यादा महत्त्वपूर्ण था और है कि मैं उससे प्रेम करता था या नहीं ?"

केतकी उसकी ओर देखती रही।

"और मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं," विनीत मुसकराया, "कि मैं स्वयं उससे प्रेम नहीं करता था···"

"क्या ?" केतकी का जैसे रोम-रोम जाग उठा, "तुम उससे प्रेम नहीं करते थे ?"

"तब नहीं जानता था, पर अब जानता हूं कि मैं उससे प्रेम नहीं करता था।"

"What makes you think that ?" केतकी ने पूछा, "वह सारी वेदना, तड़पन, मिलने की उत्कंठा, दीवानगी, आक्रोश-क्रोध···वह सारा कुछ ? वह प्रेम नहीं था ?"

"नहीं।" विनीत के स्वर में निष्ठा की दृढ़ता थी।

"तो क्या था वह ?"

"एक बच्चा दुकान में प्रदर्शित किसी खिलौने पर मचल जाए। उसके माता-पिता उसे वह खिलौना न लेकर दें। बच्चा क्रोध में वह खिलौना पटककर दुकान से निकल जाए और सोच ले कि अब वह खिलौनों से खेलेगा ही नहीं। पर कुछ समय के पश्चात् उसके माता-पिता उसे कोई बहुत ही बढ़िया खिलौना—पहले खिलौने से भी बढ़िया—ले दें और वह पूरी निष्ठा से उसमें रम जाए तो क्या तुम कहोगी कि उस बच्चे को पहले खिलौने से प्रेम था ?"

"वह बच्चा है। तुम बच्चे हो क्या ?"

"बच्चा अपने इंस्टिंक्ट के हाथों में असहाय है और वयस्क अपने इंस्टिंक्ट के हाथों।" विनीत बोला, "इसीलिए मैं कहता हूं कि मैं उससे प्रेम नहीं करता था।"

"अपने उस आकर्षण को तुम क्या नाम दोगे ?" केतकी ने पूछा, "सामान्यतः तो हम इस आकर्षण को ही प्रेम कहते हैं।"

"हां। कहते तो हैं।" विनीत बोला, "पर वह प्रेम है नहीं।"

"तुम्हारा विचार है कि लोग झूठ बोलते हैं ? बहकाते हैं ?"

"नहीं। वे अज्ञानी हैं। वे स्वयं भी उसी को प्रेम मानते हैं। वे लोग प्रेम से परिचित नहीं हैं।"

"उस भाव को तुम क्या कहते हो ?"

"मल्लिका के प्रति मेरा जो आकर्षण था, उसे तब मैं भी प्रेम ही समझता था; पर आज जानता हूं कि वह दो अन्य भावों का मिश्रण था। एक तो यौनाकर्षण, जो उस वय की सहज मांग है; और दूसरा अपना अहंकार।"

"How do you prove it ?" केतकी बोली।

"मैं मल्लिका के प्रति आकृष्ट हुआ। पर आकृष्ट तो मैं अनेक लड़कियों के प्रति हुआ था। मुझे किसी-न-किसी के प्रति आकृष्ट होना ही था, जैसे बच्चा किसी-न-किसी खिलौने की ओर खिचता ही है। बच्चे के पास खेल का साधन न हो तो वह ऊबता है। पुरुष के जीवन में नारी न हो तो उसे अपना जीवन अधूरा लगता है। मेरी अपनी रिक्ति मुझे किसी भी अच्छी लड़की की ओर आकृष्ट कर सकती थी। मल्लिका के प्रति आकर्षण के सधने से पहले मैं किसी भी अन्य लड़की के प्रति आकृष्ट हो सकता था। उसके बाद भी आकृष्ट होता रहा हूं। पर आकृष्ट मेरी वासना होती है, मेरा उदात्त तत्त्व नहीं।..."

"और तुम्हारा वह अहंकार ?"

"हां ! अहंकार मैं इसलिए कहता हूं, क्योंकि मेरे अहं ने हठ पकड़ा कि मेरे आकर्षण का केन्द्र यही लड़की होगी। अपने अहं को मैंने उसे प्राप्त करने के लिए तैयार करना शुरू किया। जितना ही मेरा अहंकार तीव्र होता गया, उतना ही मेरा यह भ्रम बढ़ता गया कि मैं उससे प्रेम करता हूं।" विनीत रुका, "यदि वह प्रेम होता तो मैं मल्लिका को पाता या खोता—मुझे हर हाल में प्रसन्न रहना चाहिए था। प्रेम सिवाय प्रसन्नता के और कुछ नहीं देता; क्योंकि प्रेम तो समर्पण का दूसरा नाम है।...इस बात का ज्ञान मुझे तब नहीं था। मैं उसके प्रति तनिक भी समर्पित नहीं था। उसकी परिस्थितियों, उसकी मनःस्थिति, उसकी मजबूरियों को समझने के लिए मैं तनिक भी तैयार नहीं था। मैं उसको निर्णय करने का समय भी नहीं देना चाहता था। मैं चाहता था कि वह मेरी इच्छाओं के अनुरूप आचरण करे। मैं उसे प्राप्त करना चाहता था। पूर्ण स्वामित्व और अधिकार चाहता था। उससे बहुत सारी अपेक्षाएं थीं मेरी। शर्तें थीं। यदि मैं उससे प्रेम करता,

उसके प्रति समर्पित होता तो मैं उससे नाता कैसे तोड़ लेता ? व्यक्ति जिसको अपना दान कर चुका हो, उससे अपना नाता कैसे तोड़ सकता है ? उसे छोड़कर, फिर किसी और से प्रेम कैसे कर सकता है ? प्रेम विरोध में कैसे बदल सकता है ?"

"पर जब तक तुमने उससे नाता नहीं तोड़ा था, उसके प्रति एकनिष्ठ तो थे। यह एकनिष्ठा ही तो प्रेम है।"

"बच्चा जब तक नए खिलौने के प्रति आकृष्ट नहीं होता, तब तक पिछले खिलौने के प्रति एकनिष्ठ ही होता है।"

केतकी थोड़ी देर चुप रही; फिर बोली, "प्रेम के तुम्हारे इस सिद्धांत में आत्मस्वाभिमान के लिए कोई स्थान नहीं है ?"

"जहां समर्पण है, वहां न आत्मस्वाभिमान है न अहंकार : 'प्रेम गली अति सांकरी, ता में दो न समाहि।' "

"एक के बाद दूसरा प्रेम भी नहीं हो सकता—चाहे प्रेमपात्र की मृत्यु ही हो जाए ?"

"प्रेम का संबंध वस्तुत: प्रेमपात्र से नहीं, अपने हृदय से है। जब अपना हृदय किसी को समर्पित हो गया, तब उसकी मृत्यु या अनुपलब्धि से हृदय अपना समर्पण लौटा नहीं सकता। वह ऐसा दास नहीं है कि स्वामी की मृत्यु के बाद वह स्वतंत्र हो जाए, न ही वह ऐसी संपत्ति है, जो स्वामी की मृत्यु के कारण पुन: बिकाऊ हो सके। उसके परमाणु तो एक बार जिसके प्रेम की आंच में तप गए, सो तप गए।"

"तो शोभा के प्रति अपने प्रेम को तुम प्रेम मानते हो ?" केतकी ने जैसे आकस्मिक प्रहार किया, "शोभा से प्रेम करते हो तुम ?"

"शोभा से प्रेम करना सीख रहा हूं।" वह मुस्कराया।

"इसका क्या अर्थ हुआ ?" केतकी हैरान थी, "प्रेम भी सीखा जाता है क्या ?"

विनीत मुस्कराया, "हां। सीखा भी जाता है। अन्य लोगों की बात मैं नहीं जानता। शायद वे पहले से ही प्रेम करना जानते हों। सीखे-सिखाए हों। मैं तो नौसिखिया हूं। अब सीख रहा हूं।"

"पर फिर तुमने शोभा को ही क्यों चुना ?" केतकी बोली, "तुम्हारे

अपने स्टेटमेंट के अनुसार, प्रेम करना तो तुम अब सीख रहे हो। तब तुम प्रेम को नहीं जानते थे, शोभा से भी प्रेम नहीं करते थे। पर तुमने उसी को चुना। और लड़कियां भी तुम्हारे आसपास रही होंगी। हो सकता है कि उन लड़कियों में से ही कोई तुम्हारी ओर बढ़ी भी हो···।"

"कई।"

"तो तुमने उनका तिरस्कार कर, शोभा को स्वीकार किया। इसे तुम अपना प्रेम नहीं मानते?"

'चुनाव के पीछे अनिवार्यतः प्रेम नहीं होता।" विनीत बोला, "हर क्षेत्र में व्यक्ति की अपनी पसंद होती है। पसंद एक वर्ग-विशेष के प्रति होती है, व्यक्ति-विशेष के प्रति नहीं। मुझे एक खास तरह के मकान पसंद हैं। खास तरह के कपड़े मुझे अच्छे लगते हैं। मैं एक खास तरह का खाना खाता हूं। उसी तरह एक खास तरह की लड़कियां मुझे पसद आ सकती थीं। शेष का तिरस्कार करना ही पड़ता है। फिर चूंकि मैं उस समाज में रहता हूं, जहां की नैतिकता मुझे एक ही स्त्री से प्रेम करने की अनुमति देती है, इसलिए मेरी नैतिकता ही मेरी एकनिष्ठा बन जाती है। वह मेरी नैतिकता है, मेरा प्रेम नहीं।" विनीत मुस्कराया, "उस समय मैं किसी की ओर आकृष्ट होना चाहता था : वह मेरी वासना थी। संयोग से, मेरी पसंद की लड़कियों में से शोभा से मेरा संपर्क बढ़ा और हमने एक साथ जीवन विताने का निर्णय किया। क्या यह परस्पर स्वार्थ सिद्ध करने का नैतिक समझौता नहीं है?"

"तो तुम अपनी वासना और पसंद के उसी सिद्धांत पर क्यों नहीं चलते? अब प्रेम की बात क्यों करते हो?" केतकी ने उसके प्रश्न के उत्तर में प्रश्न किया।

"क्योंकि अब मेरी मनःस्थिति बदल रही है।"

"शोभा से प्रेम करना कब से सीखने लगे हो?"

"साथ रहकर।" विनीत बोला, "साथ रहकर अहंकार दबा। वासना शांत हुई। तब समझ में आया कि प्रेम तो समर्पण मात्र है।" विनीत हंसा, "पर अब भी बीच-बीच में अहंकार जागता है, अधिकार-भावना फुफकारती है, वासना सिर उठाती है। कहा-सुनी हो जाती है, झगड़े की नौबत आ

जाती है। पर अब यह संभव नहीं है कि मैं शोभा के सामने अपनी शर्तें रखूं और कहूं कि यदि वह मेरी शर्तें स्वीकार नहीं करेगी तो हमारा संबंध इसी क्षण से समाप्त। मल्लिका से जैसे एक क्षण में संबंध तोड़कर चला आया था, वैसे शोभा के साथ संभव नहीं है।"

"कोई और स्त्री शोभा का स्थान नहीं ले सकती—चाहे शोभा तुम्हारे साथ रहे, न रहे।"

"हां। अब दूसरी के लिए अवकाश नहीं है। अब तो यही है—है तो भी, नहीं है तो भी।"

सहसा केतकी की आंखें चमकीं, "तुम ईमानदारी से कह सकते हो कि किसी भी अन्य स्त्री को देखकर किसी भी रूप में तुम्हारा मन प्रभावित नहीं होता? तुम किसी और की ओर तनिक भी आकृष्ट नहीं होते?"

"मन तो है ही पापी।" विनीत हंसा, "वह ताक-झांक करता है। भाग-दौड़ मचाता है। पर वह सब वासना का पसारा है: वह मेरा प्रेम नहीं है, आकर्षण नहीं है। वासना छलकती है और दब जाती है। मैं वासना पर पूरी तरह सवारी नहीं गांठ पाया हूं, तो वासना भी मुझसे बेगार नहीं करवा सकती। जैसे-जैसे प्रेम बढ़ेगा, वासना को अपने-आप सिमटना होगा।"

विनीत चुप होकर कुछ सोचने लगा।

केतकी, विनीत के इस नए रूप को देख रही थी: प्रेम के स्वरूप पर शोध वह कर रही थी और उसके स्वरूप का अनुभव विनीत कर रहा था। पर वह जिस सामग्री पर शोध कर रही थी, उससे इस निष्कर्ष पर तो पहुंच ही नहीं सकती थी। तो क्या उसके शोध की आधारभूत सामग्री ही गलत थी?

विनीत ने घड़ी देखी, "काफी देर हो गई। खाने का कुछ कर लें।"

"चलो।" केतकी जैसे अनमनी-सी उठकर रसोई में चली आई, "सूप की सामग्री मुझे दे दो और तुम सलाद काट लो।"

रसोई में आकर दोनों थोड़ी देर चुपचाप अपना-अपना काम करते रहे। पर जैसे केतकी से रहा नहीं गया। बोली, "विनीत! तुम मल्लिका को तनिक भी दोषी नहीं ठहराते? उसका व्यवहार तुम्हारे प्रति ईमानदार

था क्या ?"

विनीत हंस पड़ा, "पहले तो मैं उसे ही दोष देता था। सारा कसूर उसी का मानता था। पर जैसे-जैसे सोचता गया, उस पर से मेरा क्रोध कम होता गया।"

"क्यों ?"

"आज अपने उस समय के व्यवहार को देखता हूं तो लगता है कि मैं बहुत ही कठोर और आक्रामक था। मैंने मल्लिका को तनिक भी समय नहीं दिया कि वह सोच-समझ सके। अपने मन को तैयार कर सके। जीवन में एक बड़ा निर्णय लेने, एक बड़ी छलांग लगाने के लिए अपने मन का अनुकूलन कर सके।" वह हंसा, 'वह तो पता नहीं; तब शोभा से कैसे निभ गई। नहीं तो किसी दिन उससे भी खटक जाती। मेरी अपेक्षाएं बहुत अधिक थीं—समय बहुत थोड़ा था। युद्ध-धरातल पर सारे निर्णय लेने थे और उनके अनुसार आचरण करना था। फौजी जरनैल के ढंग से प्रेम तो नहीं हो सकता न !"

उसके पश्चात् बातचीत का विशेष सूत्र नहीं जुड़ सका। दोनों ने अपने भीतर डूबे-डूबे ही खाना खाया और व्यवहार का शिष्टाचार निभाया।

"कॉफी पियोगी ?" खाने के बाद विनीत ने पूछा, "बनाऊं ?"

"नहीं। अब रहने दो।" केतकी बोली, "कॉफी पीकर तो नींद और भी टलेगी। अब सोना चाहिए। तुम्हें भी सुबह से थका मारा है।"

"चलो। न सही।" विनीत बोला, "तुम बेडरूम में चलो। चेंज करो। मैं घर बंद कर आऊं। गेट पर ताला लगा दूं।"

विनीत चला गया।

केतकी बेडरूम में आई। चेंज क्या करना था। वह तो अपने साथ कपड़े भी नहीं लाई थी। वह इस घर में रात रुकने के विचार से कहां आई थी।···

सहसा उसे कुछ हो गया···

विनीत बाहर गेट पर ताला लगा रहा है। फिर वह घर के सारे दरवाजे बंद करेगा।···सारा घर बंद है। वह इस घर में विनीत के साथ

अकेली है···उसके अपने मन में क्या है ? क्या वह जानबूझकर जाने में विलंब नहीं करती रही कि रात हो जाए और उसे यहां रुकने का बहाना मिल जाए ? क्या सचमुच उसे विनीत की प्रीति-कथा में इतनी रुचि थी ? या वह जानना चाहती थी कि विनीत के जीवन में अब भी केतकी के लिए कहीं कोई स्थान है या नहीं ? क्या सचमुच शोध की दृष्टि से वह उसकी प्रेम-कहानी सुनना चाहती थी ?

···और क्या है विनीत के मन में ? क्या उसका वह सारा दर्शन सच है या वह भी कोई माया-जाल है ? कहीं वह उसे सम्मोहित करने की कोई सुनियोजित चाल तो नहीं चल रहा ? क्या संभव है कि अपने संबंधों की पृष्ठभूमि और वर्तमान परिस्थितियों में भी वह केतकी से कोई अपेक्षा नहीं करेगा ?

बहुत संभव है कि विनीत अब आए। अपने पीछे बेडरूम का दरवाज़ा भी भिड़ा दे। आकर वह उसके पास बिस्तर पर बैठ जाए और कहे, 'केतकी ! मैं तुमसे भी तो प्रेम करता था। पर जाने क्या हुआ कि हम एक-दूसरे से मिल नहीं सके। जाने भव-सागर में तुम कहां खो गईं···और केतकी ! अब तुम्हें इतने निकट पाकर मुझे मालूम हुआ है कि तुम्हारे लिए मेरा प्रेम, मेरी आकांक्षा, मेरी वासना मरी नहीं है। केतकी ! आओ, आज हम अपने प्यार को नया कर लें···।'

यदि विनीत ने सचमुच यह कहा तो क्या करेगी केतकी ?··· स्वीकार ? तिरस्कार ? केतकी का शरीर इतना पिघल क्यों रहा है, जैसे वह बहकर विनीत की बांहों में समा जाना चाहता है···और उसका मन इतना डरा हुआ क्यों है ?···

विनीत आ गया।

केतकी फटी-फटी आंखों से उसकी ओर देखती रही···अब यह बत्ती बुझा देगा···यह वैसा ही कुछ कहेगा···वैसा ही कुछ करेगा···

क्या होगी केतकी की प्रतिक्रिया ?···वह चुपचाप लेटी रहेगी ? विनीत को आगे बढ़ने देगी या उससे कहेगी, 'विनीत ! अब हम दोनों अपने-अपने जीवन में बहुत आगे बढ़ गए हैं। गया वक्त लौटकर नहीं आता; अतीत कभी वर्तमान नहीं बन सकता···'

विनीत मुस्कराया, "मैं कह तो गया था कि चेंज कर लो; पर यह ध्यान ही नहीं रहा कि तुम्हारे पास तो कपड़े ही नहीं हैं।"

केतकी कुछ नहीं बोली।

"शोभा की वार्डरोब में से कपड़े ले लो।" विनीत बोला, "मैंने यहां पानी-वानी कुछ नहीं रखा है। रात को कुछ चाहिए हो तो फ्रिज में से ही ले लेना।" वह रुका, "और किसी चीज़ की तो ज़रूरत नहीं है ?"

केतकी ने सिर हिला दिया। बोली अब भी नहीं।

"अच्छा ! मैं ऊपर के बेडरूम में जा रहा हूं।" विनीत मुड़ा, "सुबह भेंट होगी।"

केतकी की आंखें अब भी भाव-शून्य ही थीं। उसके मन में कई प्रकार की उथल-पुथल थी। वह नहीं जानती थी कि वह प्रसन्न है या उदास···

विनीत सीढ़ियां चढ़ गया और उसके कमरे की बत्ती बुझ गई तो सहसा केतकी के मन में आस्था की नमी उतर आई। उसने हाथ जोड़े और आकाश की ओर देखा, "तेरा शुक्र है भगवान ! तूने मुझे परीक्षा में नहीं डाला।"

उसने दरवाज़ा बंद कर लिया। बत्ती बुझा दी और बिना कपड़े बदले ही बिस्तर पर लेट गई। उसने आंखें बंद कीं, पर आंखें बंद करते ही उसे लगा कि उसकी आंखों में दूर-दूर तक कहीं नींद नहीं है। वहां तो इतने चित्र थे कि नींद के लिए कोई अवकाश ही नहीं था। उसे लगा कि दिन-भर जो वह विनीत की प्रीति-कथा सुनती रही है, तो उस सारी अवधि में अपनी प्रीति-कथा सुनाने की एक भूख भी संचित करती रही है···पर क्या सुनाए विनीत को ? विनीत के लिए उसमें कुछ भी तो नया नहीं है। पर आज रात जैसे वह उन सारी घटनाओं को फिर से एक बार जी लेना चाहती है···वह विनीत को सुनाना चाहती है। पर विनीत तो सो चुका होगा···कोई बात नहीं। केतकी आज वह कथा विनीत को अवश्य सुनाएगी···उसकी अनुपस्थिति में ही सही। द्रोणाचार्य की मूर्ति को सामने रखकर एकलव्य उनसे पूछ-पूछकर इतना कुछ सीख सकता था तो केतकी, विनीत की कल्पना को सामने बैठाकर अपनी कथा नहीं सुना सकती क्या ?···

और जैसे केतकी की कल्पना में विनीत और केतकी दोनों ही आ विराजे। केतकी सुना रही थी और विनीत उसकी कथा सुन रहा था···

उस शाम तुमसे बहुत-सी बातें की थीं मैंने। तुमने भी मुझसे पीछा छुड़ाने का कोई प्रयत्न नहीं किया था। कहीं और जाने की इच्छा प्रकट नहीं की थी; न किसी और से बात करने का कोई प्रयत्न किया था। सब लोग अपनी-अपनी तैयारियों में लगे हुए थे या इधर-उधर व्यस्त थे; और हम बरामदे के उस कोने में खड़े बातें कर रहे थे। उससे पहले शायद हम इतने समीप कभी नहीं हुए थे। मुझे बहुत अच्छा लग रहा था।

पर बात शायद उससे भी पहले शुरू हुई थी···हमारे संबंधों का अंकुर उससे भी बहुत पहले का है। यह तो तब की बात है, जब अंकुर बहुत कुछ बढ़ आया था और उस पर हल्की-हल्की कोंपलें भी फूट पड़ी थीं···

मैंने कालेज में बी० ए० कक्षा में प्रवेश लिया था। तुम पहले से वहां थे। तुमने आई० ए० भी वहीं, उसी कालेज से किया था। तुम कालेज के पुराने विद्यार्थी थे। मेरे समान नए नहीं थे। तुम्हारी जड़ें वहां अच्छी तरह जमी हुई थीं। कैसे छाए रहते थे तुम सारी कक्षा पर···

आज सोचती हूं तो लगता है कि हिंदी फिल्मों के हीरो की-सी स्थिति थी तुम्हारी। कक्षा में प्रथम तुम आए थे। वाद-विवाद प्रतियोगिताओं के माने हुए वक्ता तुम थे। अपने विश्वविद्यालय तक का प्रतिनिधित्व कर आए थे। कालेज की साहित्य-परिषद् के मंत्री तुम थे। लेखक-मंडल तुमसे चलता था। नाटकों के नायक तुम थे। उस छोटे-से नगर के उस कालेज में तुम वैसे ही थे, जैसे डाक्टर चौधरी कहा करते थे न कि तुम कैसे छिटककर इस कालेज में आ गए? नहीं तो लड़के में ज़रा-सा भी सामर्थ्य होता, और उसके माता-पिता ज़रा से भी महत्त्वाकांक्षी होते तो उसे जमशेदपुर से बाहर भेज दिया करते थे।

तुम शायद इसलिए बाहर नहीं गए थे कि तुम्हारे माता-पिता संपन्न नहीं थे। या शायद उससे भी ज़्यादा इसलिए कि न तुम विज्ञान पढ़ना चाहते थे, न डाक्टरी, न इंजीनियरिंग···तो तुम्हें बाहर भेजने का खर्च

कोई क्यों उठाता···

पर तुम वह सब पढ़ना क्यों नहीं चाहते थे, जो उस समय का प्रत्येक मेधावी छात्र पढ़ना चाहता था···केवल इसलिए कि तुम लेखक बनना चाहते थे। उस उम्र में कितने लड़के जानते हैं कि वे क्या बनना चाहते हैं ? तुम जानते थे कि तुम वैज्ञानिक, इंजीनियर या डाक्टर नहीं बनना चाहते। पर क्या तुम यह भी जानते थे कि आवश्यक नहीं कि शेष मेधावी छात्र भी वह सब कुछ बनना चाहते ही हों—पर वह सब कुछ बनने के साथ जो आर्थिक सुविधाएं समाज उनको देने वाला था, वे सारी सुविधाएं वे चाहते थे। तुम नहीं चाहते थे ? तुम नहीं चाहते थे कि तुम्हें अच्छा वेतन मिले, धन आए, बंगला हो, गाड़ी हो, धनाढ्य परिवार से पढ़ी-लिखी, सुंदर और सुशिक्षित पत्नी मिले ? सुंदर बच्चे हों, उनके लिए आया हो, रसोई में रसोइया हो, गाड़ी का ड्राइवर हो, बंगले के फाटक पर दरवान हो, स्मार्ट सुंदर और भरे-पूरे यौवन वाली सेक्रेटरी हो···तुम नहीं चाहते थे यह सब ?···मुझे तुमसे यह सब पूछने का अवसर नहीं मिला। तब मैंने भी यह सब सोचा नहीं था···पर यदि तुम यह सब कुछ जानबूझकर छोड़ रहे थे, तो तुम बड़े महान् थे···मैं आज भी उस महानता के लिए तुम्हें नमस्कार कर सकती हूं। और यदि तुम बिना यह सब सोचे-समझे, अपनी धुन में लेखक बनने के लिए आगे बढ़ रहे थे, तो मैं मानती हूं कि तुम बड़े सौभाग्यशाली थे। तुम अपनी अज्ञता में ही अपने हित में सबसे लाभदायक निर्णय कर चुके थे।

तुम वैज्ञानिक, डाक्टर, इंजीनियर··· कुछ भी बनना चाहते तो शायद उसके लिए बाहर भेजकर तुम्हारे पढ़ाने का खर्च तुम्हारा परिवार संभाल नहीं पाता। प्रयत्न करता तो आर्थिक दृष्टि से तबाह हो जाता; और न करता तो तुम्हारे मन में सदा के लिए एक गांठ पड़ जाती।···वैसे भी तुम्हारा व्यक्तित्व प्रयोगशालाओं में बंधा रहने के लिए अनुकूल नहीं है—मानव-मात्र में तुम्हारी रुचि तुम्हें वैज्ञानिक या इंजीनियर नहीं बनने देती। डाक्टर बनते तो कुछ बेहतर स्थिति होती। पर डाक्टर बनकर तुम कुछ लोगों को—सीमित संख्या में—उनके शारीरिक कष्टों से ही मुक्ति दे पाते। तुम लेखक न बन सकते तो डाक्टर बनना ही तुम्हारे लिए उचित

था—पर तुमको तो लेखक बनना था न ! विराट मानवता को अनन्त काल तक भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक कष्टों से मुक्ति तो वही दे सकता है···

फिर उस छोटे-से कालेज में तुम अद्वितीय भी तो हो गए थे। जमशेदपुर से बाहर जाते—पटना, बनारस, इलाहाबाद, दिल्ली···कहीं भी जाते; तुम अद्वितीय नहीं रहते। तुम जैसे बहुत सारे छात्र होते, हो सकता है, तुमसे श्रेष्ठतर भी होते।···हो क्या सकता है, अवश्य ही होते···

मैं नई-नई आई थी कालेज में। अभी मेरी जड़ें जमी नहीं थीं। आत्मविश्वास जागा नहीं था।···अपने विषय में कोई गलतफहमी नहीं है मुझे। किसी प्रकार द्वितीय श्रेणी में बी० ए० कर लेना ही लक्ष्य था मेरा। तब तक मैंने विश्वविद्यालय में कभी प्रथम या द्वितीय आने की बात भी नहीं सोची थी।···वाद-विवाद प्रतियोगिताओं में मैं कभी गई नहीं थी। लेखक मैं थी नहीं। कभी कोई कविता-कहानी लिखी नहीं थी।···कोई ऐसी सुंदरी भी नहीं हूं।···तुमसे बात करने का कभी साहस ही नहीं जुटा पाई। उन सारे लैक्चर्स में मैं भी होती थी, जिनमें तुम होते थे। बात करने की इच्छा न हुई हो, ऐसा भी नहीं है। उन दिनों तुमसे परिचित होना कालेज में प्रतिष्ठा पाने के समान था। पर तुमसे बात हो नहीं पाई···

उस दिन कालेज से कुछ जल्दी घर चली आई थी। सिर कुछ भारी था। कुछ करने-धरने को था नहीं। पढ़ने का मन नहीं था। अनमनी-सी लेटी थी। शाम हो आई थी और आकाश पर बादल घिर आए थे। जमशेदपुर का मौसम ऐसा ही होता था उन दिनों। आजकल जाने कैसा हो।···दिन में हल्की-सी गर्मी हो जाए तो शाम तक बारिश होने लगती थी। सड़क के किनारे ही घर था हमारा। तुम्हें याद होगा जमशेदपुर में 'घर' या 'मकान' शब्द प्रचलित नहीं है। वहां तो सब लोग घर को 'क्वाटर' ही कहते हैं। हां ! बिहारी लोग उसे 'डेरा' कहना ज़्यादा पसंद करते हैं; क्योंकि 'घर' तो वे अपने गांव के स्थायी निवास को ही कहते हैं।··· पर मुझे अब 'घर' कहने की ही आदत पड़ गई है। 'क्वाटर' शब्द अब बड़ा अटपटा लगता है···तो हमारा घर सड़क के ऐन किनारे पर था। बरामदे में खड़े हो जाओ, तो बड़े मजे में देखा जा सकता था कि वर्षा होने से सड़क

पर कैसी भगदड़ मचती है।

उस शाम भी जब बाहर ज़ोर की वर्षा की आवाज़ आने लगी तो मैं बरामदे में निकल आई। अभी ठीक से सड़क पर नज़र टिकी भी नहीं थी कि तुम पर नज़र पड़ी। तुम उस समय कालेज से लौट रहे थे। तुम्हारे साथ संध्या भी थी।···

तब तक संध्या के साथ तुम्हारी मैत्री मेरी समझ में तनिक भी नहीं आई थी।···यह सब तो बाद में मालूम हुआ कि वह तुम्हारी बड़ी बहन की सहेली थी। बीच में पढ़ाई छोड़ देने के कारण अब हमारी कक्षा में आ गई थी। तुम्हारे और उसके परिवारों के बीच परिचय ही नहीं था, मिलना-जुलना भी था।···

जब तक मुझे यह सब मालूम नहीं था, उसके प्रति एक विचित्र प्रकार की खीझ थी मेरे मन में। हो सकता है, उसे ईर्ष्या भी कहा जा सकता हो···खीझ तुम्हारे प्रति भी थी : कैसे मूर्ख हो; क्या लड़की चुनी है···

वर्षा की बौछार पड़ी। मैंने देखा। तुम दोनों भीग रहे हो। सोचा, आवाज़ देकर बुला लूं। पर न जाने कैसा तो संकोच मन में घिर आया। बजाय इसके कि आवाज़ देकर तुम लोगों को बुलाती, मैं स्वयं ही बरामदे से हटकर कमरे में आ गई। पर कमरे में आ जाने भर से तो मुझे शांति नहीं मिल सकती थी। खिड़की के पास आकर खड़ी हो गई।

उस समय की अपनी स्थिति का वर्णन करने के लिए मुझे आज तक शब्द नहीं मिले।···मैंने देखा कि तुम लोग असमंजस की स्थिति में सड़क के किनारे के एक वृक्ष के नीचे रुक गए हो। संध्या मेरे घर की ओर संकेत कर रही थी और तुम कुछ कह रहे थे।···फिर मैंने देखा कि संध्या हमारे घर के फाटक की ओर बढ़ी। तुम उसके पीछे-पीछे थे। उसने फाटक खोला। उस वर्षा में भीगते हुए भी तुमने रुककर फाटक फिर से बंद किया। तब तक संध्या बरामदे में आ चुकी थी।···यह सब कुछ मैंने देखा, पर मैं बाहर निकलकर तुम लोगों का स्वागत नहीं कर पाई। जाने मुझे क्या हुआ कि मैं पुस्तक लेकर एक कुर्सी पर बैठ गई, जैसे मैंने कुछ भी न

देखा हो; और बाहर जो भी घटित हो रहा हो, उसमें मेरी रत्ती-भर भी रुचि न हो।

मेरी छोटी बहन—स्वीकृति—मुझे बताने आई कि तुम लोग आए हो।

मैं समझ नहीं पा रही थी कि मैं क्या कहकर तुम लोगों का स्वागत करूंगी। पर मैं आ गई। आना तो था ही। सूचना मिल जाने पर भी भीतर छिपी कैसे रह सकती थी।···संध्या ने अपनी छतरी निथर जाने के लिए एक कोने में रख दी थी और तुम अभी अपनी गीली बरसाती लिए, खड़े सोच रहे थे कि उसका क्या करो···

आज सोचती हूं तो याद आता है कि सारी क्लास में दो ही लड़के बरसाती लाते थे। एक वह छोटा-सा, काला-सा, बीमार-सा बंगाली लड़का था न, जो पहली बार देखने पर आदिवासी ही लगता था; और दूसरे थे तुम। वह तो इसलिए लाता था, क्योंकि वह बीमार रहता था और भीगने से डरता था। और तुम? तुम शायद हर समय, हर परिस्थिति में मुस्तैद रहने के लिए···जैसा कि तुम अपने-आपको कहा करते थे—'Most well-equiped person.' बाकी लड़कों में तो कोई छतरी भी नहीं लाता था। लड़कियां ही अपने साथ छोटी-छोटी छतरियां लाया करती थीं।

कहना तो मैं बड़ी आत्मीयता से चाहती थी, "लाओ विनीत! बरसाती मुझे दे दो। मैं टांग देती हूं।" पर इतनी आत्मीयता दिखाने का साहस नहीं कर पाई। इतना ही कह पाई, "उधर खूंटी पर टांग दीजिए।"

तुम लेखक हो। दूसरों के मन को समझना तुम्हारा गुण भी है और काम भी। तब न भी समझ सके होओ, तो आज अवश्य समझ सकते होगे कि मेरा मन तुमसे खूब परिचित था, पर सामाजिक व्यवहार में हम दोनों का कभी औपचारिक परिचय भी नहीं हुआ था। भीतर से तुम मेरे आत्मीय थे और बाहर से हमारे संबंध औपचारिक भी नहीं थे। ऐसे में उस उम्र की किशोरी कैसा व्यवहार करेगी?

तुमने बरसाती को खूंटी पर टांग दिया था। रूमाल से अपने चेहरे को पोंछने और बालों को सुखाते हुए तुमने कहा था, "बरसात ने अचानक ही आ घेरा। हम बड़े संकट में पड़ गए थे, पर संध्या ने बताया कि वह आपसे

परिचित है।···"

पता नहीं, सहज रूप से बातचीत आरंभ करने के लिए तुम मुझे इन घटनाओं का भागीदार बना रहे थे, या मेरे घर में इस प्रकार चले आने का यह स्पष्टीकरण मात्र था।···आज जानती हूं कि कितनी भी वर्षा हुई होती, तुम उससे बचने के लिए इस प्रकार किसी अपरिचित के घर में नहीं घुसते। पता नहीं यह तुम्हारा संकोच है, स्वाभिमान है या सामर्थ्य···थोड़े किए तुम किसी से सहायता नहीं मांगोगे।···और किसी लड़की के घर इस प्रकार पहुंचना···जब तुम भयानक मानसिक यातना के दिनों में भी इस प्रकार किसी बहाने की आड़ में मल्लिका के घर नहीं गए तो मेरे घर··· इतना तो मैं तब भी जानती थी कि और लड़कों के समान तुम मुझसे बातचीत करने या मुझसे मिलने के लिए वर्षा की आड़ नहीं ले रहे थे। तुम्हें इसकी ज़रूरत भी नहीं थी। कक्षा की प्रायः लड़कियां तुम्हारी मित्र थीं। तुम्हें बहानेबाज़ी की ज़रूरत नहीं थी।···पर शायद तुम्हें अपनी गरिमा का बचाव करना था। तुम नहीं चाहते रहे होगे कि तुम्हें कोई इस प्रकार हल्का समझ ले···मुझे आज भी तुम्हारी उन दिनों की मुद्राएं याद हैं। तुम शैबी नहीं थे। वेशभूषा के मामले में तुम फैशनेबल नहीं थे, पर तुम्हारा पहनावा अन्य लड़कों के समान भी नहीं था। गर्मियों में तुम केवल सफेद क़मीज़-पतलून पहनते थे। पूरी आस्तीन की कमीज़, जो बहुत गर्मी होने पर मोड़ दी जाती थी। सर्दियों में अवश्य तुम बहुत रंगीले हो जाते थे। क्या वह कपड़ा होता था—जो ऊनी होता तो नहीं था, पर सूती लगता भी नहीं था—उसकी पतलून। सफेद सूती कमीज़। और रंगदार स्वेटर। कभी-कभी तो बड़े चटख रंगों के स्वेटर पहनते थे। स्वेटर और पतलून के रंगों का कंट्रास्ट भी आंखों को खींचने वाला होता था। पर उन कपड़ों में भी कभी हल्के नहीं लगे तुम। मुझे याद है, तुम्हारी शायद इसी गंभीरता को कांपलिमेंट देते हुए कुछ लड़कियां कहती थीं, 'विनीत छात्र तो लगता ही नहीं है। पूरा लैक्चरर लगता है।'

घर से बाहर, चप्पलों में तुम्हें मैंने कभी नहीं देखा था। हर मौसम में बूट-जुराबों में होते थे तुम। क्लीन शेवन। ढंग से संवरे हुए बाल। चुस्त-दुरुस्त। बिस्टुपुर बाज़ार की मुख्य सड़क पर एक स्टूडियो था न! शायद

'साठेज़ स्टूडियो' नाम था। वहां तुम्हारी ऐसी ही एक फोटो लगी हुई थी न! आज भी वह फोटो लगी हुई है क्या?

तव मुझे कुछ नहीं सूझा तो इतना ही कहा, "वैठिए न!"

"आप परेशान न हों।" तुमने कहा था, "हम वैठेंगे नहीं। वर्षा थम गई तो चले जाएंगे।"

यह तुम्हारी औपचारिकता नहीं थी। न तुम संकोच करते ही लग रहे थे। तुम उन दिनों भी ऐसी वातें सहज ही कैसे कर लेते थे। वह वंगाली लड़की, जो वहुत अच्छा गाती थी। अरे वही जो यूथ फेस्टिवल में हमारे साथ रांची भी गई थी।...शायद सरस्वती नाम था उसका। सुंदर थी। प्रभाकर वहुत प्रयत्न करता रहा था, उसे अपने गाने से प्रभावित करने का।...उसने रांची में तुमसे कहा था न, "आप अपनी वात कहने के लिए इतने उपयुक्त शब्द कैसे चुन लेते हैं। हमको तो शब्द सूझते ही नहीं।"

तुम्हारी क्षमता पर आश्चर्य नहीं था मुझे। सरस्वती द्वारा तुम्हारे इस गुण को रेखांकित करने पर ही आश्चर्य हुआ था मुझे। इतनी समझ थी उसे?...और मैं कुछ-कुछ ऐसा अनुभव करते हुए भी इस तथ्य को इतने स्पष्ट शब्दों में कह क्यों नहीं पाई?

वर्षा हल्की हो गई थी; पर मां और स्वीकृति ने तुम लोगों को चाय के लिए रोक ही लिया था। तुम अकेले होते तो शायद तुम्हें रोकना संभव नहीं होता। तुम अशिष्ट हुए विना भी वड़े मैटर ऑफ़ फैक्ट हो सकते थे... (लो कैनेडा के प्रवास ने मेरी भाषा भी कैसी कर दी है न); पर संध्या तुम्हारे साथ थी। उसे रोकने में तनिक भी कठिनाई नहीं हुई। स्वीकृति उसकी वांह पकड़कर झूल गई थी, "दीदी! हम आपको ऐसे नहीं जाने देंगे।"

चाय पिलाकर ही भेजा था मां ने तुम लोगों को।

•

उसके वाद कालेज में भी तुम अपरिचित नहीं रह गए थे। न तुमने मुझसे खिंचे रहने का प्रयत्न किया था। पर इतना-सा संपर्क हमें वहुत निकट तो नहीं ला सकता था। और आज मैं स्वीकार कर रही हूं कि

तुम्हारे निकट आना चाहती थी मैं···

'यूथफेस्टिवल' के नाटक की चर्चा चली तो मैं केवल इसलिए उसमें सम्मिलित हो गई थी, क्योंकि नाटक के नायक तुम थे।···वैसे मेरा परिवार ऐसा नहीं था कि मेरी इन सब गतिविधियों को प्रोत्साहित करता··· पिताजी का वेतन बहुत अधिक नहीं था। इसलिए कालेज इस विचार से गई थी कि कैसे भी बी० ए० करके किसी स्कूल में पढ़ाने की नौकरी कर लूं।···विचारों की दृष्टि से मेरे माता-पिता मुझे रोकने वाले नहीं थे; पर मैं स्वयं ही सोचती थी कि नाटक-वाटक के चक्कर में कहीं पढ़ाई न बिगड़ जाए।···पर नाटक में तुम थे। मेरा मन हो रहा था कि मैं भी नाटक में रहूं···

मुझे बड़ा अच्छा लगा था, जब डा० हुसेन ने मुझे नाटक के लिए चुन लिया था। दो-एक रिहर्सलों से स्पष्ट भी हो गया था कि मेरा अभिनय उनको कोई खास पसंद नहीं आ रहा। उस समय तक तो शायद उन्हें तुम्हारा अभिनय भी खास नहीं भाया था। तुम्हें याद है, एक बार उन्होंने कुछ हताश होकर कहा था, "बात बन नहीं रही और वक्त ज़्यादा है नहीं। इस समय हमारे पास मल्होत्रा और प्रद्युम्न होते तो चुटकियों में काम हो जाता।"

मल्होत्रा और प्रद्युम्न, दोनों ही बी० ए० करके कालेज छोड़ चुके थे। मेरा मन अपने अपमान से रुआंसा-सा हो आया। इच्छा हुई, रो पड़ूं और चीखकर कहूं, "तो बुला लीजिए अपने मल्होत्रा और प्रद्युम्न को। वे होते रहें फेल और करते रहें आपके नाटक।"

पर तुमने कितने विश्वास से सहज ही कह दिया था, "सर ! आप हमें सिखाएंगे तो हम भी मल्होत्रा और प्रद्युम्न हो जाएंगे।"

और डा० हुसेन की आंखों में चमक जाग उठी थी।

नाटक के रिहर्सल के कारण मैं भी तुम्हारे और संध्या के साथ ही कालेज आने-जाने लगी थी। मेरा घर रास्ते में ही पड़ता था। मैं अनुमानित समय के आसपास आकर सड़क किनारे खड़ी हो जाती थी। पहले दिन तो शायद मैंने थोड़ा-सा बहाना भी किया था कि संयोग से ही तुम लोगों से भेंट हो गई है। पर दूसरे दिन से बहाने की भी ज़रूरत नहीं

पड़ी। जब साथ जाना ही था तो इस प्रकार के प्रपंच की क्या जरूरत थी।

नाटक लेकर पहले हम लोग रांची गए थे। तुम्हें भी याद ही होगा—यूथ फेस्टिवल का वह जमाना। बाद में तो जाने क्यों सब बंद हो गया था। अब तो जैसे सारे राष्ट्र को खेल की ही आवश्यकता है। शेष सारी सांस्कृतिक गतिविधियां विश्वविद्यालयों से बहिष्कृत हो गई हैं। पर तब बड़ा जोश था। काफी बड़ी टोली थी हमारी। नाटक, गायन, वादन, नृत्य···कुछ और चीजें भी रही होंगी। पहले हमें रांची जाना था, उस क्षेत्रीय चुनाव में विजयी होने पर पटना।

आभास तो मुझे पहले भी था, पर वास्तविक रूप में रांची पहुंचकर ही मुझे मालूम हुआ था कि कितनी मांग थी तुम्हारी—लड़कियों में। याद है तुम्हें वह प्रमिला।···मुझे तो उसने डरा ही दिया था। यहां संध्या साथ नहीं थी, और वैसे भी मैं नाटक की नायिका थी, इसलिए अधिकांशतः मैं ही तुम्हारे साथ होती थी। और लड़कियां भी थीं—हमारी कक्षा की। कुछ के साथ तुम्हारी घनिष्ठता भी थी। मैं मान लेती थी कि वे तुम्हारी पुरानी सखियां थीं। सब जानते थे—उनके साथ तुम्हारे संबंध मैत्रीपूर्ण थे। अफेयर किसी के भी साथ नहीं थी। हां! प्रभा के विषय में थोड़ा-सा सुना था कि कभी तुम उसकी ओर झुके थे। पर रांची में तुमने उसके आकर्षण का कोई प्रमाण नहीं दिया था। न होस्टल में, न रिहर्सल में, न हुंड्रू जल-प्रपात देखने जाते समय।···पर वह प्रमिला···वह तुमसे चिपकने का काफी प्रयत्न कर रही थी। एक लड़की और थी न! वह छोटी-सी प्यारी-प्यारी उड़िया लड़की। बहुत ही भली लड़की थी वह। तुम्हारी आंखों में मैंने उसके प्रति भी बहुत स्नेह देखा था। ठीक कह रही हूं न! स्नेह ही कह रही हूं, रोमांस नहीं। बेचारी कितना सम्मान करती थी तुम्हारा।··· पर इस प्रमिला ने तो हद ही कर दी···कोई लड़की कैसे इतनी बेशरम हो सकती है···

सब लोग सुबह के नाश्ते के लिए डायनिंग रूम में जा रहे थे कि प्रमिला तुमसे आ टकराई।···

इस समय तक हममें से कोई भी नहाया-धोया तक नहीं था, किसी ने भी ढंग के कपड़े तक नहीं पहने थे। यह सारा काम तो ब्रेक-फास्ट के बाद

ही होता था। पर प्रमिला नहा-धो आई थी। उसने चटख हरे रंग की साड़ी बांध रखी थी, हरा ही ब्लाउज था। कानों में हरे झुमके और गले में हरे मोतियों का ही हार था। गहरी लिपस्टिक लगा रखी थी उसने; और माथे पर चटख बिंदी भी थी। वैसे लग तो बहुत चीप ही रही थी, पर सस्ता आकर्षण तो उसमें था ही। अस्थायी जीत के लिए सस्ता आकर्षण कितना प्रहारक होता है···क्षण-भर में वारा-न्यारा हो जाता है, और जीवन की दिशा बदल जाती है···

वह हाथ में एक ताजा खिला, गहरे सुर्ख रंग का गुलाब पकड़े हुए थी, जो शायद अभी-अभी होस्टल की फुलवारी में से तोड़ा गया था।

उसने आगे बढ़कर मुंह से बिना कुछ कहे ही वह गुलाब तुम्हारी ओर बढ़ा दिया था।

मैं धक् रह गई। कैसी निर्लज्ज है यह लड़की। इतने लोगों के बीच, सार्वजनिक रूप से वह तुम्हें गुलाब दे रही थी, जैसे जानबूझकर तुम पर अपने अधिकार की घोषणा कर रही हो···हद होती है किसी भी चीज की···

तुमने हाथ बढ़ाकर गुलाब नहीं पकड़ा। न उसके इस तरह के व्यवहार से तुम्हारे कान लाल हुए थे। बड़े मंजे हुए खिलाड़ी के समान तुमने रसिक बनकर पूछा था, "किसी को गुलाब का फूल देने का अर्थ समझती हो?"

वह बेशरम न लजाई, न शरमाई, न उसने आंखें झुकाईं, न वहां से टली। बड़ी अदा से मुस्कराकर उसने स्वीकृति में सिर हिला दिया।

और तुमने झूमकर पंक्ति पढ़ी, "इतनी जगह कहां है दिले दाग़दार में।"

क्या बताऊं, उस क्षण क्या-क्या गुजर गया था मेरे मन में।

क्या समझूं तुम्हें? क्या हो तुम? जिस उम्र में लड़के किसी भी लड़की से बात तक करने के लिए लार टपकाते रहते हैं, उसी उम्र में तुम प्रमिला जैसी फुलझड़ी का आत्मनिवेदनी गुलाब ठुकरा रहे हो। तुम्हारे भीतर पुरुष की दुर्बलता नहीं है क्या? उस लड़की ने तुम्हें आकृष्ट नहीं किया? उसके इस प्रस्ताव ने तुम्हारे भीतर का अंध-पुरुष नहीं जगाया?

उसी शाम हमारा नाटक हुआ था। याद है तुम्हें ? नाटक जब चरम बिंदु पर पहुंचा और नायक-पति के रूप में, नायिका-पत्नी से तुम बहुत नाराज़ हो गए···मैंने हमेशा महसूस किया कि क्रोध या नाराज़गी का अभिनय करना कभी भी तुम्हारे लिए तनिक भी कठिन नहीं रहा। तुम्हारा चेहरा वैसे ही बड़ा गंभीर-सा है। तुम स्वयं न हंसो तो दूसरा व्यक्ति कोई हल्की बात कहने का साहस ही नहीं कर पाएगा।···ज़रा-सी भौं तानते हो, नथुने फुलाते हो तो इतने क्रुद्ध लगने लगते हो कि···तुम अपना चेहरा इतना लाल कैसे कर लेते हो···क्षोभ, आवेश, क्रोध, नाराज़गी, घृणा··· इन सबका अभिनय···

तो जब बहुत क्रुद्ध होकर तुमने यानी नाटक के नायक-पति ने, मुझे यानी नायिका-पत्नी को चांटा मारा, तो जाने क्या हुआ···तुम्हारा हाथ ज़ोर से चल गया था या मैं ही असावधान थी···चांटा कुछ अधिक ही ज़ोर से पड़ गया।···मेरा सिर घूम गया···मन भनभना उठा···अभिनय का अर्थ यह कहां है···

मारने के बाद तुम्हें उदासी और पश्चात्ताप का अभिनय करना था। तुम उदास हो गए थे···कितने उदास···मुझे लगा, यह अभिनय नहीं था। यह तो तुम स्वयं थे विनीत ! जो सचमुच उदास हो गए थे। तुमने महसूस किया होगा कि नायक ने नायिका को नहीं मारा, विनीत ने केतकी को चांटा मार दिया है, जो बहुत ही अनुचित था···

कितने उदास हो गए थे तुम। अभिनय को पार कर, वास्तव में··· मेरे लिए अभिनय करना कठिन हो रहा था। मैं तुमसे रूठी रहने का अभिनय कैसे करती। मेरा मन तो कुछ इतना तरल हो रहा था कि तुम्हारा उदास चेहरा अपनी दोनों हथेलियों में थामकर, तुम्हारी उदास आंखों में मुस्कान उंडेलती हुई कहूं, "इतने उदास क्यों हो विनीत ! तुमने मुझे मारा कहां—वह तो अभिनय था।···तुम्हारी उदासी तो ऐसी है कि तुमने सचमुच भी मुझे मारा होता, तो भी ऐसी उदासी के बाद केतकी को तुम पर प्यार ही आता···"

हमारा नाटक 'रांची क्षेत्र' में सर्वोत्कृष्ट घोषित हुआ। और कोई नाटक इतना अच्छा था भी नहीं। उस पिछड़े क्षेत्र से, ऐसी कोई अपेक्षा भी

किसी को नहीं थी। चाईबासा, चक्रधरपुर या स्वयं रांची में ऐसी कोई संस्था नहीं थी, जहां से कोई अच्छा नाटक आता। जमशेदपुर उन शहरों की तुलना में बड़ा और विकसित शहर था। वहां कलात्मक गतिविधियों की अच्छी परंपरा थी।···और फिर हमारे निर्देशक हुसेन साहब सचमुच अच्छे निर्देशक थे।···

हां! तो मैंने अपनी बात जहां से शुरू की थी, वह पटना के कालेज के उस होस्टल की ही शाम थी। उस शाम अचानक ही बहुत कुछ घटित हो गया था···

रांची की तुलना में पटना आया हुआ हमारा दल बहुत छोटा था। फिर भी काफी लोग थे।

दोपहर के बाद जब मेकअप इत्यादि का काम चल रहा था तो हमारी अंग्रेज़ी की लैक्चरर मिस बैनर्जी मेरी कंघी कर रही थीं। तुम्हारा मेकअप शायद हो चुका था, या बाद में होना था···अब याद नहीं है। केवल इतना ही याद है कि जब मिस बैनर्जी मेरी कंघी कर रही थीं तो तुम वहीं थे।

अचानक उन्होंने कंघी बाएं हाथ में पकड़कर, दाहिने हाथ से मेरे बाल सहलाए, "तुम्हारा केश भीषोण चीकना हाय।" फिर जाने उन्हें क्या शरारत सूझी। उन्होंने तुम्हारी ओर देखा, "हाय न विनीत!"

तुम जिस तरह के लड़के थे, तुमसे अपेक्षा यह थी कि मिस बैनर्जी के इस वाक्य के बाद तुम आगे बढ़ते और कहते, "देखूं।" और केशों पर हाथ फिराकर फतवा देते, "सूअर के बालों जैसे तो रुखड़े हैं।"

पर तुम्हारी शरारत नहीं जागी। तुम झेंपकर एक कदम पीछे हट गए थे, "मैं क्या जानूं।"

मिस बैनर्जी ने तुम्हें इतने पर ही बख्श नहीं दिया था। वे तपाक से बोलीं, "तुम नहीं जानता, तुम्हारा हीरोइन का केश चीकना हाय या नाईं।"

पता नहीं उनके मन में क्या था। वे तुम्हें खिझाने के लिए यह सब

कह रही थीं, या सचमुच उन्हें संदेह था कि हममें ऐसी निकटता थी।

तब तक तुम कुछ संभल गए थे, "हुसेन साहब ने नाटक में चांटा मारने का दृश्य तो रखा है, केश सहलाने का नहीं रखा।"

तुम वहां से हट गये थे। शायद नहीं चाहते थे कि मिस बैनर्जी कुछ और कहें। पर मिस बैनर्जी ने तुम्हारी पीठ पर एक वाक्य उछाल दिया था, जिसे तुमने या तो सुना नहीं, या जानबूझकर अनसुना कर गए।

"हुसेन साहब बहुत क्रुएल हाय।" उन्होंने कहा था; और फिर मेरी ओर झुककर बोली थीं, "चांटा खाने का बाद प्रेम का सीन भी होना चाहिए। तुम विनीत का कांधा पर आपना सीर रख दो। ओई तुम्हारा केश-टा सोहला देगा।"

इस सारी बातचीत में, मैं पहली बार 'मैं' हुई। अब तक बैठी हुई सब कुछ सुन रही थी, जैसे यह सब कुछ मेरे लिए न कहा जा रहा हो, किसी और के लिए कहा जा रहा हो। किसी और के माध्यम से हमारे मन की बात कह दी जाती है तो कितना उल्लास जागता है न मन में। मैं भी मन ही मन रस पी रही थी। तुम्हारे और मेरे श्रृंगार की बात हो रही थी और मैं बीच में थी ही नहीं। कह रही थीं मिस बैनर्जी और उत्तर दे रहे थे तुम। मैं तो जैसे नेपथ्य में बैठी बस रस ले रही थी।

मिस बैनर्जी जब सीधी मुझसे संबोधित हुईं तो पहली बार 'मैं', 'मैं' हो आई।

"प्लीज़ मिस बैनर्जी !" जाने मैं कैसे कह गई, "आप उसे वेस दे रही हैं, मुझे परेशान करने का।"

वे हंस पड़ीं, "हाम तो तुमारा अफेयर को वेस देता हाय, फ्लाई कोरने को। बहूत दीन से हाम देखता हाय, हीरो-हीरोइन में रोमांस नाईं होता। हाम को माजा नाईं लागता। तुमारा मन नाईं, तो हम नाईं बोलेगा।" और फिर वे गंभीर हो गईं, "विनीत ऐसा माफिक लाड़का नाईं। ओई तुमको पोरेशान नाईं कोरेगा। ओई वेसी लोक्खी छेले। ऐई माफिक लोड़का हाम आज तक नाईं देखा। नाईं तो नाटोक बाद में शूरू होता, रोमांस पोहिले आरंभो होई जाता…।"

मेरा मेकअप हो गया। और कुछ करने को था नहीं और मन था कि

टक्करें मार रहा था तुम्हें खोजने को। किसी से पूछना भी नहीं चाहती थी कि तुम कहां हो—कहीं मिस बैनर्जी ही कह दें, "हो गीया शूरू।"

···रामनरेश त्रिपाठी की वह कविता पढ़ी है न तुमने, "मैं खोजता तुझे था, जब कुंज और वन में। तू छुपा हुआ था, दीन के वतन में।"··· कुछ ऐसे ही शब्द हैं। स्कूल के कोर्स में पढ़ी थी। अब शब्द गड़बड़ा भी गए हों तो कुछ पता नहीं है। अवश्य ही गड़बड़ा गए होंगे···

मैं बहाने-बहाने से तुम्हें कहां-कहां खोज आई थी और तुम ऊपर बरामदे की रेलिंग से लगे खड़े थे, उदास-से।

"तो तुम यहां खड़े हो!" मुझसे कहा नहीं गया कि 'मैं कब से तुम्हें खोज रही हूं।'

तुमने केवल देखा, कुछ कहा नहीं।

"हुसेन साहब कह रहे थे कि सबका मेक-अप हो जाए तो इकट्ठे ही सब हॉल की ओर जाएं।"

"सबका मेकअप हो गया क्या?" तुमने पूछा था।

"नहीं। अभी चल रहा है।" मैं भी आकर तुम्हारे पास रेलिंग से लगकर खड़ी हो गई, "यह स्थान अच्छा है। नीचे तो बहुत घुटन है।"

"हां! यहां खुला-खुला-सा है।" सहसा तुम मेरी ओर घूमे, "आज मिस बैनर्जी को क्या हो गया था?"

"क्यों? बहुत झेंप गए क्या?" मन हो रहा था, मैं भी दोनों हाथों से तुम्हें गुदगुदा दूं।

पर तुम हल्के मूड में नहीं थे। तुम कुछ और गंभीर हो गए, "उनका क्या है। वे तो बोल-बालकर एक ओर हो गईं। पर इसकी प्रतिक्रिया यहीं थोड़ी रुक जाएगी। कल सारे लड़के-लड़कियां यही सब कहेंगे। तुम पर आवाज़ें कसी जाएंगी।···तुमको परेशान किया जाएगा, वह भी मेरे बहाने से।"

तो तुम मेरे लिए परेशान थे। मन में आया, कहूं, "व्यक्ति गुदगुदाए जाने का विरोध तो करता है, पर उसका अपना एक मजा भी तो है। तुमने देखा नहीं कि फूल की पंखुड़ी पर जब वर्षा की बूंदें पड़ती हैं, तो वह कैसे थरथरा उठती है, पर उसके बाद कैसी निखर आती है।"···पर यह

सब कहा नहीं ।

"कौन कहने जा रहा है किसी से ।" मैंने कहा, "वहां था ही कौन ?"

"प्रमिला थी ।" तुमने उत्तर दिया, "उसे तुम नहीं जानतीं, मैं जानता हूं ।"

प्रमिला···मैंने मन-ही-मन सोचा···वही लड़की, जो तुम्हें गुलाब का फूल दे रही थी । तुमने उसका गुलाब स्वीकार नहीं किया, तो अब वह तुम्हारे मार्ग में कांटे तो बोएगी ही ।···पर तुम अपने लिए परेशान नहीं थे । परेशान तो तुम मेरे लिए थे । भला, तुम मेरे लिए क्यों परेशान थे ? कालेज में इतनी लड़कियां थीं···उन सबकी परेशानी से भी क्या तुम इसी प्रकार परेशान हो जाते हो ?···आज जितना तुम्हें जानती हूं, उससे कह सकती हूं कि शायद तुममें सबके लिए परेशान होने की क्षमता है; पर तब ऐसा नहीं लगा था । तब यही माना था कि तुम मेरे लिए ही परेशान थे । तुम्हारी परेशानी मुझे अच्छी लगी । क्या मेरे लिए यह सुखद नहीं था कि तुम मेरी परेशानी की आशंका से परेशान हो ?

तब जाने कैसे मिस बैनर्जी की आत्मा मुझमें आ विराजी । थोड़ी देर पहले तक जो कुछ मिस बैनर्जी कर रही थीं, वही सब करने का मेरा मन हो आया···तुम्हें परेशान करने का···

"प्रमिला तुम्हें अच्छी नहीं लगती क्या ?"

तुमने जिस तरह तड़पकर मुझे देखा था, उसमें जाने कैसी-कैसी पीड़ा थी । एक बार तो मेरा मन भी कांप गया । सोचा—ऐसा क्रूर खेल तुमसे न ही खेलूं । पर छोटी-बड़ी लहरों के समान अनेक विपरीत और विरोधी इच्छाएं मेरे मन में उछल-कूद मचा रही थीं । एक ओर मन तड़प रहा था, तुमसे विनोद और परिहास के अधिकार की निकटता पाने के लिए; और दूसरी ओर तुम्हारे संवेदनशील मन के साथ इस प्रकार का खेल··· निराला की 'जूही की कली' याद आ गई । पवन के द्वारा जूही की कली का झकझोरा जाना ठीक था, पर यदि पवन कली की पंखुड़ियां ही बिखेर दे तो ?···

"मैं इतना सस्ता नहीं हूं ।" तुमने कहा था ।

आज भी समझती हूं, तब भी समझती थी कि यह तुम्हारा अहंकार

नहीं था। सचमुच तुम इतने सस्ते नहीं थे।

"पर तुम उसे अच्छे लगते हो।"···कह गई और चिंता में पड़ गई; जाने तुम क्या उत्तर दो।

तुमने आंखें तरेरकर मुझे देखा, "उसे तो हर दूसरा पुरुष अच्छा लगता है।"

"जो भी लड़की तुम्हें पसंद करे, तुम उसके विषय में यही सोचोगे?"

"पागल हूं क्या? मेरा दिमाग़ खराब है?" तुमने मुझे घुड़का।

"अच्छा! प्रभा से तुम्हारा क्या संबंध है?" जाने यह सब पूछने की हिम्मत मैं कैसे कर पा रही थी, "मैंने सुना था, तुम्हारी कोई अफेयर···।"

तुमने तमककर मुझे देखा था। लगा, यह सब पूछना नहीं चाहिए था। अफेयर थी तो तुम्हारी थी। मुझे क्या अधिकार था, यह सब कुरेदने का? किसी की गोपनीय बातों की ऐसी छानबीन···क्या अधिकार था मुझे ···पर मेरी अपनी मजबूरी भी तो थी। उस समय तक तो मैं स्वयं भी नहीं समझ रही थी कि तुम्हारे विषय में यह सब जानने की इतनी व्याकुलता मुझमें क्यों थी···क्यों मैं जान लेना चाहती थी कि तुम्हारा मन कहीं बंधा तो नहीं है, तुम्हारी आंखें कहीं टंगी तो नहीं हैं···

"अफेयर!" जाने कैसे तुम इतने पारदर्शी हो उठे थे, "अफवाहों पर विश्वास मत कीजिए···" तुमने पूछा, "अफेयर का समय आ गया हमारे जीवन में?"

फिर वही···एकदम भिन्न! इतने सारे लड़के हैं हमारे आसपास! हमारे आसपास के लड़के ही क्यों। यह सारा व्यापक पुरुष समाज। जिस किसी के जीवन में जब कभी कोई स्त्री आई, क्या कभी किसी ने सोचा कि अफेयर का भी कोई समय होता है? पुरुष के जीवन में नारी के आकर्षण का भी कोई समय होता है? लोहे ने कभी सोचा कि चुंबक की ओर खिचने का समय आया है या नहीं? ताप लगते ही, पिघलने से पहले क्या घी ने कभी सोचा कि उसके पिघलने का समय···

···पर तुम न लोहा हो, न घी···तुम मनुष्य हो···पर क्या अन्य पुरुष मनुष्य नहीं हैं? नहीं! शायद वे चिंतनशील मनुष्य नहीं हैं। 'प्रसाद' ने ठीक ही कहा है, 'प्रेम करने की भी एक ऋतु होती है।' ऋतु के

अनुकूल होने से ही जीवन रसमय होता है। क्या जीवन को इस गहराई से जीते हो तुम ?...

"कुछ तो है।" मैंने चुहल के वेश में जिज्ञासा का जाल फैलाया, "आखिर उसी को लेकर क्यों ऐसी चर्चा है ?"

तुमने गंभीरता से मुझे देखा, "चर्चा है या नहीं; और है तो क्यों है—यह तो मैं नहीं जानता। पर ऐसा मुझे भी लगा·· हो सकता है, गलत ही लगा हो..."

"क्या ?"

"यही कि वह मेरी ओर कुछ बढ़ी तो थी...।"

"पर तुमने बढ़ावा नहीं दिया ?"

"नहीं।" तुम तनिक भी हल्के नहीं हो पा रहे थे, 'बढ़ावा देने, न देने का समय ही नहीं मिला मुझे।"

"क्या मतलब ?"

"इन बातों को समझने में मुझे कुछ देर लगती है...।"

"हां। यह दर्शन या साहित्य तो है नहीं," मैंने तुम्हारी बात पूरी नहीं होने दी, "जो तुम तत्काल समझ जाओ। नारी, दर्शन और साहित्य—दोनों से अधिक जटिल है।"

"जीवन सारे दर्शनों से जटिल है।" तुमने कहा था, "वैसे अपने विषय में कई बार मुझे लगा है कि मैं कई बातें तत्काल समझ नहीं पाता हूं। मेरे reflexes बहुत slow हैं।" और सहसा तुम हंस पड़े थे, "यह नासमझी मेरे जीवन में बहुत काम आई है।"

सच कहूं ! मैं स्तब्ध रह गई। कितना बड़ा सच कह गए थे तुम ! जीवन के प्रलोभनों में तत्काल जा फंसना यदि समझदारी है, तो वैसे समझदार तुम नहीं थे। प्रलोभन तो आते हैं और निकल जाते हैं—तत्काल उनके जाल में न कूदे, तो व्यक्ति बच ही जाता है। जब वह फंसने के लिए सायास उस ओर बढ़ता है, तब पाता है कि प्रलोभन अपना जाल पहले ही समेट चुका है...

तुममें यह नासमझी थी क्या ?

"प्रभा के व्यवहार में थोड़ा दीवानापन है।" तुमने कहा था, "मैं

नहीं जानता कि तुमने कभी नोट किया है या नहीं—वह जोगन है।"

"कैसे ?"

"बस वह अपना जोग बखानने लगती है और अपने अलख की घेरा-बंदी आरंभ कर देती है।" तुमने कहा था, "उसके व्यवहार के लिए अंग्रेज़ी में एक शब्द है sickening. वह इस बुरी तरह अपने-आपको किसी पर भी आरोपित करती है कि अगला परेशान हो उठता है।" तुम क्षण-भर कुछ इस ढंग से रुके थे कि सहसा मुझे महाभारत के अर्जुन की याद हो आई···कुरुक्षेत्र के मैदान में कौरव और पांडव सेनाएं सन्नद्ध खड़ी हैं लड़ने को और उन दोनों के बीच अर्जुन का रथ खड़ा है···अर्जुन सोच रहा है··· लड़ूं या न लड़ूं···तुम कुछ इस अंदाज़ में खड़े थे···कहूं या न कहूं···बात भी तो बाण से कम नहीं है। बाण के चलते ही युद्ध आरंभ हो जाएगा, जो किसी के रोके नहीं रुकेगा और बात के कहते ही उसका प्रभाव आरंभ हो जाएगा। 'रहीम' ने कहा है न कि "तुम मुझे मुंह से निकालो और मैं तुम्हें घर से निकालूंगी···।"

सहसा तुमने जैसे निर्णय कर लिया, "कई बार मैंने सोचा है कि मैं दुष्ट क्यों हूं। वह जब मिलती है, हर बार इतनी सद्भावना से बात करती है। कभी मेरे विरुद्ध नहीं बोलती, कभी कड़वा नहीं बोलती। हर बार सोचता हूं कि मैं अपना व्यवहार अधिक कोमल, अधिक शिष्ट बनाऊंगा। पर हर बार वह अपने व्यवहार से कुछ इतने परोक्ष रूप से मुझे चिढ़ा देती है कि न तो मैं यह समझ पाता हूं कि मैं चिड़चिड़ा क्यों गया हूं और न मैं अपना व्यवहार बहुत मधुर रख पाता हूं···।"

कितना सही विश्लेषण था तुम्हारा। मैंने इतने कम दिनों में ही देख लिया था कि प्रभा का व्यवहार सबके लिए मीठा था; पर हर व्यक्ति उससे छिटक जाता था—बिना जाने हुए कि कारण क्या था।···

मेरा मन एक अकथनीय उल्लास से भर आया था। जाने कहां से मेरे भीतर एक मोर आकर बैठ गया था। लग रहा था आकाश पर चारों ओर मेघ ही मेघ घिर आए हैं। और वह मोर अपने पंख फैला-फैलाकर झूमकर नाचना चाहता था। पैर जैसे थिरकना चाहते थे। अंगुलियां सीढ़ियों की रेलिंग पर ही ताल देना चाहती थीं। और सच कहती हूं, पूरी तरह

सतर्क न होती तो मैं उस समय गुनगुना उठती···कुछ उन्माद-सा हो आया था मुझे···प्रभा से तुम्हारी अफेयर नहीं थी। वह तुम्हारे लिए भी sickening थी। तुम भी उससे छिटक जाना चाहते थे। ओह ! मैं कितनी प्रसन्न थी।

तुम फिर से कुछ गंभीर हो गए थे। नहीं···कुछ असमंजस था तुम्हारे चेहरे पर। क्यों ? और फिर तुम स्वयं ही बोले थे, "मैंने इस प्रकार कभी किसी से कुछ नहीं कहा। जाने क्यों मैं तुमसे यह सब कुछ कह गया हूं।"

तुम प्रश्नवाचक दृष्टि से मेरी ओर देख रहे थे, जैसे मुझसे कुछ पूछ रहे थे; पर मैं जानती हूं, तुम मुझसे पूछ नहीं रहे थे। तुम मुझे समझा रहे थे। मैं समझ रही थी। मैं जानती थी कि तुम मुझसे क्या कह रहे थे···

उस शाम हमारे नाटक का मंचन था। नाटक के मंचन की उत्तेजना में ये सारी बातें चेतना से जैसे धुल गई थीं। नाटक के बाद ही हमें रात की गाड़ी पकड़ लेनी थी। आशा यही थी कि रांची के समान ही, यहां पटना में भी हमारा नाटक सर्वोत्कृष्ट घोषित होगा और जमशेदपुर लौटते ही हम दिल्ली जाने की तैयारियों में लग जाएंगे।

पर हुआ कुछ और ही। यद्यपि हमारा नाटक रांची की प्रस्तुति से भी अच्छा हुआ; और हमारा निश्चित मत था कि हमारी प्रस्तुति सर्वोत्कृष्ट थी, पर निर्णायकों का निर्णय हमारे पक्ष में नहीं हुआ।

जाने क्यों मेरे मन में तब भी महाभारत का ही एक चित्र उभरा। दिन-भर का युद्ध लड़ लेने के बाद पांडव अपने मित्रों और संबंधियों के साथ सिर टिकाकर शोकपूर्ण मुद्रा में बैठे हुए थे···जैसे अभिमन्यु का वध हो गया हो या घटोत्कच ने वीरगति पाई हो।

हमारा शिविर भी पांडवों का शोकग्रस्त शिविर हो रहा था। पर हमें तो शोकपूर्ण मुद्रा में बैठने का भी अवसर नहीं मिला। हमें खाना खाकर तुरंत स्टेशन भागना था।

गाड़ी हमने ठीक समय पर पकड़ ली थी। थर्ड क्लास का (मैंने ··· है कि आजकल भारतीय रेल में तृतीय श्रेणी है ही नहीं) डब्बा था।

से जमशेदपुर की यात्रा के लिए आजकल जाने क्या हाल है, पर उन दिनों तो केवल एक गाड़ी हुआ करती थी—'साउथ बिहार एक्सप्रेस'। या शायद तब उसे 'टाटा-पटना एक्सप्रेस' कहते थे। और तब तक किसी भले आदमी ने यह भी नहीं सोचा था कि रात-भर की इस यात्रा के लिए किसी यात्री को पूरी बर्थ भी चाहिए। बिना किसी आरक्षण के ही, जितनी जगह मिल जाए, उस पर बैठे-बैठे ही यात्रा होती थी।

हमारे उस डब्बे में उस दिन बहुत भीड़ नहीं थी। शायद उन दिनों न छुट्टियां थीं, न शादी-ब्याह का मौसम। पर लेटने का तो प्रश्न ही नहीं था, बैठने को भी बहुत खुली जगह नहीं थी। डब्बे में अधिकांश लोग हमारे ही दल के थे। कुछ गिने-चुने बाहरी लोग भी रहे होंगे। तुम्हें याद होगा कि आधे से ज्यादा डब्बा हमारे ही पास था। हुसेन साहब, मिस बैनर्जी, डा० वर्मा तथा डा० सिंह--अर्थात् हमारा अध्यापक वर्ग और नृत्य-टोली की लड़कियां--ये लोग डब्बे के एक खंड में थे; और नाटक के अभिनेता, तबला बजाने वाला वह दुबला-पतला लड़का सरकार, गायिका सरस्वती और कुछ लोग हमारे वाले खंड में थे।···पर जिस समय की बात मैं कर रही हूं, उस समय तुम वहां नहीं थे।

प्रतियोगिता में असफलता ने जाने क्यों मुझ पर बहुत ही बुरा प्रभाव डाला था। मन इतना डूब रहा था कि लगने लगा था, मुझे बुखार भी है और सिर में दर्द भी। समझ नहीं पा रही थी कि तबीयत पहले से कुछ गड़बड़ थी और मैं नाटक की उत्तेजना और तुम्हारे इतने निकट होने के उल्लास में उसे भूली रही थी; या नाटक की असफलता ने ही मन को उदास करने के साथ-साथ सिर में दर्द भी कर दिया था।

बैठे-बैठे मन उचाट होता गया और सहसा ही मैंने पहचाना कि मेरे मन में तुम्हारे प्रति खीझ उमड़ रही है। आखिर इस समय कहां हो तुम। यहां आकर और लोगों के साथ चैन से क्यों नहीं बैठते···पर फिर सोचा कि तुम मेरे समान, नाटक के एक अभिनेता मात्र नहीं हो। तुम्हारा महत्त्व और दायित्व इससे कहीं ज्यादा है। तुम दल के कर्ता-धर्ताओं में से हो। कहीं कोई दायित्व निभा रहे होगे। मैं तो यह भी नहीं जानती थी कि मेरी अटैची कहां है। सामान का भी सारा दायित्व तुम्हीं लोगों पर था। हो

सकता है…

गाड़ी चल पड़ी थी और पटना जंक्शन को बहुत पीछे छोड़ आई थी। हवा के ठंडे झोंके तन को और साथ-ही-साथ मन को भी कुछ राहत दे रहे थे। पर तुम अभी तक नहीं आए थे।

और वह सींकिया सरकार, जाने कहां से अपना तबला-डुग्गी उठा लाया था और वहीं एक ट्रंक पर उन्हें टिकाकर खुद भी मेरे सामने जम गया था, "आपनी ऐक टा गाना गाइए न ! हम शोंगोत कोरेगा।"

वह पटना के इस सारे प्रवास में मेरे गाने के साथ अपने तबले की संगत के लिए बहुत उत्सुक रहा था; जैसे प्रभाकर सरस्वती के साथ एक दोगाना गाने के लिए बहुत परेशान रहा था।

"मेरा मन नहीं है।" मैंने हल्के से कहा था, "मेरी तबीयत ठीक नहीं है।"

"अरे गान गान न !" सरकार बोला, "तोबीयत आपने आप ठीक हो जाएगा।"

मैं उठकर खड़ी हो गई। निर्णय नहीं कर पा रही थी कि क्या करूं। उठकर मैं डब्बे के दरवाज़े की ओर आई। देखा, तुम अकेले खुले दरवाज़े के बीचोबीच खड़े, हवा के सर्राटों को अपने चेहरे पर झेलने का सुख उठा रहे हो। हवा के झोंकों से तुम्हारे बाल उड़-उड़कर माथे पर आ रहे थे और डा० सिंह की वह टाई, जो तुमने नाटक के लिए ली थी, और उसे अब भी बांधे हुए थे, हवा में ज़ोरों से फड़फड़ा रही थी। कैसे फिल्मी हीरो-से तो लग रहे थे तुम।

मुझे देखकर तुम मुस्कराए। मुझे लगा कि मेरी उदासी ही कुछ कम नहीं हुई, सिर का दर्द भी हल्का पड़ गया।…और सहसा मेरी रीढ़ की हड्डी में जैसे एक सिहरन दौड़ गई, कैसे खड़े हो तुम ! कहीं गिर पड़े तो ?

मैं बढ़कर तुम तक आई। बिना किसी पूर्व-चेतावनी के, तुम्हारी बांह पकड़कर मैंने तुम्हें भीतर खींचा और दरवाज़ा बंद कर दिया।

तुमने कोई प्रतिरोध नहीं किया। केवल मुझे देखते रहे।

"कहीं गिर पड़ते तो ?" मेरे मुख से शब्द फूटे, "ऐसे खड़ा हुआ

जाता है गाड़ी में ?"

"नहीं ! दादी अम्मा।" तुमने पूरी गंभीरता से कहा था।

मेरी हंसी अभी पूरी तरह थमी भी नहीं थी कि प्रमिला उधर आ निकली। मुझे लगा कि वह हमें खोजती हुई ही इधर आई है। वह आकर पास खड़ी हो गई तो मेरा उल्लास जाने कहां खो गया, जैसे बादल का टुकड़ा आ जाए तो प्रखर धूप कहीं खो जाती है। तबीयत फिर से भारी हो गई। सिर का दर्द ही नहीं जागा, मन का विष भी फुफकार उठा। लगा, प्रमिला मेरे निकट नहीं खड़ी थी, मेरी छाती पर खड़ी थी।

"तो यहां छिपे हैं हीरो-हीरोइन।"

मैं काठ हो गई : इस बदतमीज़ को क्या कहूं।···बहुधा ऐसा हो जाता है मेरे साथ। अचानक क्रोध आ जाए तो न कुछ बोल पाती हूं, न कुछ कर पाती हूं।

पर तुम्हारे चेहरे पर मुस्कान खेल गई। बहुत ही सहज भाव से, जैसे पहले से ही तैयार थे, तुम बोले, "तू यहां क्यों आई खलनायिके ?" और फिर तुमने मुद्रा बदली, "बुरा न मानना देवि ! यह संस्कृत नाटकों की संवाद-शैली है। यदि आप चाहें तो मैं आपको, नायक-नायिका के संवाद में विघ्न प्रस्तुत करने वाले, विदूषक के रूप में संबोधित करूं···।"

प्रमिला किसी से कम नहीं थी। वह तनिक भी हतप्रभ नहीं हुई। बोली, "संस्कृत नाटकों की संवाद-शैली ही तो एकमात्र शैली नहीं है। तुम कहो तो मैं पारसी थियेटर की शैली में नायिका के समान तुम्हारी टाई की नाट ठीक कर दूं।" और उसने बढ़कर तुम्हारी टाई की नाट को झकझोरा, "और कहूं कि आप आजकल की आधुनिकाओं से सावधान रहें।"

तभी डा० सिंह उधर आ निकले। शायद वे टायलेट की ओर आए थे। क्षण-भर के असमंजस के बाद बोले, "रिहर्सल हो रहा है ? ध्यान रखना, कहीं कोई एक्सिडेंट न हो जाए।"

मेरा दिमाग़ झनझना रहा था। यह प्रमिला ! हद कर दी इसने तो। कैसे पीछे पड़ी है विनीत के। रांची में उसे गुलाब का फूल दे रही थी और यहां उसकी टाई की नाट ठीक कर रही है···बेशरम कहीं की !

निर्लज्ज !···पर विनीत का व्यवहार ? विनीत ने गुलाव का फूल अस्वीकार कर दिया था; पर अव ? अव क्या ? प्रमिला को झटक दे ? अपनी टाई उसके हाथों से छीन ले ?···

"पारसी थियेटर खत्म।" विनीत ने टाई खोलकर हाथ में पकड़ ली।

मेरा मन विनीत के प्रति कितना-कितना कृतज्ञ हो उठा था। विनीत ने वही किया, जो मैंने चाहा था। उसने प्रमिला के प्रस्ताव को फिर से अस्वीकार कर दिया था···

मेरे सिर का दर्द फिर से हल्का हो गया था, पर शरीर सहसा वृक्ष से लता हो गया था। लगता था अपने सहारे खड़े रहने या वैठ जाने की शक्ति नहीं है मुझमें। कहीं लेट जाऊं। पर गाड़ी में ढंग से वैठने को जगह मिल जाए, वही वहुत होती है; लेटने के लिए स्थान···

वहां से टलने का मन नहीं हो रहा था। वहां विनीत के पास प्रमिला खड़ी थी। अभी उसने विनीत की टाई संवारी थी, थोड़ी देर में उसके कालर संवारने लगेगी। उसका क्या भरोसा है, विनीत की आस्तीन संवारते-संवारते उसके कंधे पर अपना सिर टिका दे···

मैंने स्वयं को पहचाना। मेरा शरीर क्यों वृक्ष से लता हो गया था। क्यों मेरे शरीर में प्राण नहीं लग रहे थे···सिर में दर्द था, शरीर में शायद ज्वर का ताप था, मन में नाटक के सफल न होने की हताशा थी। कहीं लेट जाऊं···

"मैं चलती हूं विनीत !" मैंने कहा था और वापस अपनी सीट पर लौट आई थी। सरकार, अभी तक अपना तवला-डुग्गी रखे, वहां वैठा था। हां ! डुग्गी पर उसने हाथ न रख, अव सिर टिका रखा था, जैसे उसका भी शरीर वृक्ष से लता हो गया हो।···उसकी आंखें वंद थीं। वह वैसे वैठा-वैठा ही सो चुका था।

मैं अपने स्थान पर वैठ गई। वैठने भर को काफी खुला स्थान था। सोचा था कि शायद विनीत आए। उसे भी तो वैठने को स्थान चाहिए था। पर वह तो अभी तक खड़ा था वहां प्रमिला के पास···

डा० सिंह क्या कह गए थे—पहली वार मेरा ध्यान उनके वाक्य की

ओर गया, 'कहीं कोई एक्सिडेंट न हो जाए।' क्या अभिप्राय था उनका ?
…तुम्हारा मेरी या प्रमिला की ओर आकृष्ट होना दुर्घटना थी क्या ?
या दो लड़कियों की ओर एक साथ आकृष्ट होने के परिणाम को दुर्घटना
कह रहे थे वे ? यह भी तो हो सकता है कि तुम्हारे कारण मुझ में और
प्रमिला में झगड़ा…छिः…

तुम आ गए थे। प्रमिला तुम्हारे साथ नहीं थी। जाने कहां चली गई
थी।

तुम आकर मेरे पास खड़े हो गए थे, "मेरे लिए जगह है ?"

मेरे मन और मस्तिष्क की जो हिल्लोलित स्थिति थी, उसमें स्वयं
को संतुलित रख, भावुकता को बचा जाना बड़ा कठिन था। मुझे डर
लगा—कहीं मैं ऐसा कुछ कह या कर न जाऊं, जो मर्यादा तोड़ता हो,
कहीं मैं भावुक होकर…

"आओ बैठो।" मैं एक ओर खिसक गई।

तुमने क्षण भर मुझे देखा : मैं दाहिने खिसकी थी और मैंने खिड़की के
साथ तुम्हारे लिए स्थान बना दिया था। यदि तुम वहां बैठ जाते तो मेरी
बाईं ओर तुम होते और दाईं ओर निर्मलसिंह। तुमने हाथ से मुझे बाईं
ओर खिसकने का संकेत किया। मैं खिसकी। तुम बैठ गए। अब तुम्हारी
आंखों से मैंने भी स्थिति को देखा : खिड़की के साथ मैं बैठी थी, मेरे साथ
तुम थे, तुम्हारे साथ निर्मलसिंह और फिर शारदेन्दु। सामने सरस्वती थी,
उसके साथ सरकार, फिर घोष और कामेश्वर।…यह व्यवस्था ठीक थी।

मैं थोड़ी देर खिड़की से बाहर देखती रही। दिखना ही क्या था।
बाहर घना अंधेरा था। जाने गाड़ी कहां से गुज़र रही थी : इस क्षेत्र के
विषय में मुझे ज़्यादा मालूम नहीं था। जहानाबाद और गया निकल चुके
थे। उसके बाद दक्षिण बिहार का वह क्षेत्र था, जहां शायद ही कोई बड़ा
स्टेशन हो—बड़का काना और भरी जैसे दो-एक स्टेशन थे, जिन्हें वहां
बड़ा स्टेशन माना जाता था। उन स्टेशनों पर न कोई गाड़ी में चढ़ता था,
न उतरता था—बस पीने का पानी और कुल्हड़ की चाय मिल जाती
थी। रात के समय जाने वह भी मिले, न मिले…

फिर बाहर क्या देख रही थी मैं ?

कुछ समझ नहीं पा रही थी। मन में एक प्रकार की परेशानी और खीझ-सी थी; मेरे आने के बाद प्रमिला ने क्या किया होगा ? तुम्हारे गले से लग गई थी, या तुमको अपनी बांहों में समेट लिया था ? कुछ ऐसा ही करने के लिए तो तब से तुम्हारे आगे-पीछे घूम रही थी। कभी गुलाब का फूल···कभी टाई···मेरे आने के बाद तो एकदम एकांत था वहां। अवश्य ही···सहसा मेरा सारा क्रोध प्रमिला को छोड़ तुम पर टूट पड़ा था। मेरे आ जाने के बाद क्यों रहे तुम वहां, प्रमिला के साथ···

लगा, मेरी खीझ ने अपने चरम को छू लिया और फिर उसका उतार आरंभ हो गया···तुम मेरी पत्नी हो क्या कि मैं हट गई तो तुम पर-पुरुष के पास न रहो।···और मेरे सामने तो बार-बार तुमने प्रमिला का तिरस्कार ही किया था। प्रमिला के स्थान पर मैं होती तो कभी तुम्हारी शक्ल न देखती। फूल लौटा दिया। न सही प्रेम, न सही आकर्षण···न सही कुछ और···साधारण शिष्टाचार में भी व्यक्ति दूसरे का मन रखने के लिए भी ऐसी चीजें स्वीकार कर लेता है। पर तुमने फूल लौटा दिया।···टाई खोलकर हाथ में पकड़ ली।···और अब भी तो तुम उसकी एकांत संगति छोड़कर मेरे पास आ गए हो।

मुझे लगा, इस समय मेरा तन-मन बहुत हताश हो रहा है। मैं शायद बहुत दुर्बल हो रही हूं, तभी तो इस प्रकार खीझ रही हूं। शायद अपने-आपसे लड़ने की परेशानी से बचने के लिए किसी और से लड़ लेना चाहती हूं···पर तभी मुझे लगा, मैं तुमसे लड़ना नहीं चाहती। उन सबसे लड़ना चाहती हूं, जो तुम्हारे और मेरे बीच आ रहे हैं।···मेरे सिर में दर्द है। शरीर शायद बुखार से टूट रहा है। बैठने की शक्ति नहीं है। मन इस प्रकार अवसादग्रस्त हो रहा है कि पिघलकर बह जाना चाहता है। मुझे तुम्हारा सहारा चाहिए···आज सोचती हूं तो समझ नहीं पाती कि यह कैसे हो गया। मुझे लग रहा था कि मैं बिना सहारे के बैठ भी नहीं पाऊंगी ···और मैंने दाहिनी ओर झुककर अपना सिर तुम्हारे कंधे पर टिका दिया···

"तबीयत ठीक नहीं है ?" तुमने बहुत धीरे से मेरे कान में पूछा।

"सिर दुख रहा है।" मैंने कहा, "शायद बुखार भी है"

तुमने अपनी हथेली से मेरा माथा छुआ, "है। सो तक तो अवश्य है। लेट जाओ।"

तुम अपनी जगह से कुछ खिसके। मैं झुकती चली गई। जगह अधिक थी नहीं। जगह की जैसे ज़रूरत भी नहीं थी।···मैं झुकती ही चली गई··· तुम्हारी हथेली ने फिर माथे को छुआ। फिर तुम्हारे हाथों ने जैसे मेरे माथे को सहलाया। अंगुलियों के आगे बढ़ने का अहसास हुआ।···अब तुम्हारी हथेली मेरे गाल पर थी···मैं बेहद विह्वल थी। मेरा शरीर जैसे स्पर्श के लिए उतावला हो रहा था। रोम-रोम जैसे तुम्हारी हथेली को पुकार रहा था। मेरा चेहरा भी तुम्हारी ओर घूमा ही नहीं, कुछ उठ भी गया था, मेरे होंठ तुम्हारा स्पर्श पाने के लिए जैसे आधे खुल-से गए थे···

पर सहसा तुम्हारा हाथ जैसे ठिठक गया और फिर सरककर वापस लौट गया। तुम मेरा माथा दबा रहे थे···

जाने शरीर में एकदम ऊर्जा नहीं थी, या मन एकदम हिलना नहीं चाहता था; पर विवेक ने मुझे चेताया।···मेरी आंखें खुल गईं···गाड़ी पूरे वेग से भागी जा रही थी। बाहर भरपूर अंधेरा था। डब्बे के इस खंड में मात्र मार्ग के बीच एक हल्का नीला बल्ब जल रहा था। सब लोग औंधे-सीधे सो रहे थे···

"कोई नहीं देख रहा।" मेरे मन में किसी ने जोर से कहा। इच्छा हुई कि मैं तुम्हारी गोद में सिर टिकाकर पूरी तरह लेट जाऊं···पर तभी विवेक ने जोर का एक चांटा मारा। कहा कुछ भी नहीं।

मैं संभल गई। आंखें खोल दीं। तुमने भी आंखें खोलीं। मुझे देखा। कहा कुछ भी नहीं।

"लगता है, बुखार बढ़ रहा है।" पता नहीं, मैं तुम्हें सूचना दे रही थी या अपनी झेंप मिटा रही थी।

तुम्हारी आंखों में कुछ भी नहीं था : न वह जाने की तत्परता, न समेट लेने का आवेश। बड़े मैटर ऑफ फैक्ट तरीके से, जैसे मानवीय दायित्व से भरी मैत्री में तुमने पूछा, "ज्यादा तकलीफ हो, तो सिर दबा दूं?"

"नहीं।" मैंने कहा और फिर जैसे अपने-आप ही मुख से निकल

गया, "अपना रूमाल बांध दो।"

तुमने अपना रूमाल निकाला और खड़े होकर मेरे माथे पर कसकर बांध दिया। एक बार मेरे माथे और सिर को अपनी हथेली से टटोला…

तभी सामने बैठे, ऊंघते सरकार ने अपनी आंखें खोल दीं। तुमने तनिक भी संकोच नहीं दिखाया। तुम्हारा व्यवहार एकदम उस डाक्टर का-सा था, जो घायल को पट्टी बांध रहा हो।

"शीर में वैथा है?" सरकार ने पूछा।

मैंने बिना कोई उत्तर दिए, अपनी आंखें बंद कर लीं।

"हां।" तुमने छोटा-सा उत्तर दिया, "किसी के पास कोई टेबलेट होगी क्या?"

"बोलने नाईं शोकता।" सरकार फिर से ऊंघ गया।

तुम बैठ गए। मैंने अपना सिर तुम्हारे कंधे से टिका दिया। तुमने भी नींद से बोझल हुई आंखें मूंद लीं।

मेरा सारा शरीर कैसा तो हो रहा था। रोम-रोम जैसे पिघल रहा था। मेरा विवेक खड़ा मेरी ढीठ कामना को घूर रहा था, पर कह कुछ नहीं रहा था। फिर शायद उसने घूरना बंद कर दिया। मेरा शरीर जैसे लोहे के चूर्ण का ढेर हो गया था, जो तुम्हारे शरीर की चुंबक की ओर खिंचा जा रहा था। मेरे रोके वहां कौन रुकता था। मेरा सिर तुम्हारे कंधे से तुम्हारी गोद में ढुलकता जा रहा था। तुम्हारे हाथ मेरे शरीर को संभाल रहे थे। तुम्हारे स्पर्श में इतनी कोमलता थी, जितनी शायद जौहरी के हाथ में कोहेनूर को पकड़ते हुए भी नहीं होती होगी…और मैं अपने बुखार पर मुग्ध होती जा रही थी…

सुबह तक मुझे बाकायदा बुखार हो गया था और सब जान गए थे कि तुम रात-भर मेरी देख-भाल करते रहे थे। डा० सिंह की भी परिहास वाली मुद्रा अब गंभीर हो चुकी थी। मिस बैनर्जी ने कहा भी, "तुम ऐकला काहे पोरेशान होता रहा। हाम को जागाया काहे नाहीं।"

"सोचा, आपकी नींद क्यों खराब की जाए।" तुमने उत्तर दिया था, "और इसे बुखार है कहां; वह तो नाटक को पुरस्कार न मिलने का क्रोध है, जो इसके शरीर को तपा रहा है।"

'ऊंह !" प्रमिला ने मुंह बिचकाया था।

तुम्हारा रूमाल मेरे माथे पर बंधा-बंधा ही मेरे साथ आ गया था। मैं अब नियमित रूप से बीमार थी। अपने घर में बिस्तर पर पड़ी थी। दवा खा रही थी। दिन में एक बार डाक्टर आता था, और एक बार घर से कोई जाकर डाक्टर को बता आता था। मैं दिन-भर पड़ी-पड़ी या तो तुम्हारी प्रतीक्षा करती थी, या यह सोचती थी कि आखिर उस रात गाड़ी में मुझे क्या हुआ था ?···मैं कैसे इतना साहस कर सकी ? सोचती हूं तो लज्जा से लाल हो जाती हूं···कैसे मैंने अपने सिर को तुम्हारी गोद में डाल दिया था। बुखार की आड़ न होती तो आज लाज से ही मर गई होती···

तुम तीसरे दिन मेरे घर आए थे। तुम्हारी आहट पाते ही मेरा शरीर पानी-पानी हो गया। कैसे सामना करूंगी तुम्हारा···तुम्हारी आंखें कैसे तो मुझे देखेंगी···तुम्हारे हाथों के स्पर्श की शीतलता पाने के लिए मेरा रोम-रोम जैसे अंगारे के समान तप रहा था···क्या तुम मेरे पास पलंग पर बैठोगे ?···क्या मैं अपना सिर···

तुम आकर सामने वाली कुर्सी पर ऐसे बैठ गए, जैसे अस्पताल में रोगी का हाल-चाल पूछने के लिए आया हुआ व्यक्ति बैठ जाता है। तुम्हारे चेहरे पर कहीं कुछ नहीं था···

मेरा मन बुझ गया।···निश्चित रूप से तुमने उस दिन के मेरे सारे व्यवहार को एक रोगी की असहायता माना था···और तुम्हारा जाग्रत विवेक किसी की असहायता को किसी भी दूसरे रूप में नहीं देख सकता था···मन में ऐसा बगूला उठा कि तुम्हारे विवेक के साथ-साथ तुम्हारा भी मुंह नोच लूं···तुममें बुद्धि ही बुद्धि है, विवेक ही विवेक है···भावना नाम की कोई चीज़ नहीं ? मन की दुर्बलता को एकदम नहीं समझते तुम ?··· बुखार की असहायता में भी कितनी लड़कियां इस प्रकार अपने-आपको ढीला छोड़ देती हैं ?···

कैसे बुरे समय में आया था यह बुखार···ओट न हुई, विघ्न हो गया···

मेरा मन जैसे जड़ हो गया···इस विवेकी को कोई लड़की अपना मन खोलकर कैसे बताएगी ?···

"कैसी हो ?" तुम्हारा स्वर औपचारिक था।

"ठीक हूं। तुमने व्यर्थ ही आने की तकलीफ की।" मेरा स्वर तुमसे भी अधिक औपचारिक हो गया था।

तुमसे मेरा और कोई संबंध हो भी कैसे सकता था।

तुम्हें मालूम भी नहीं हुआ और मैं कई दिन तुमसे नाराज रही। नाराज़गी का सारा काल वही था, जब मैं अस्वस्थता के कारण कालेज नहीं जा रही थी; और इस बीच तुमसे एक दिन भी भेंट नहीं हुई। इसलिए तुम्हें मेरी नाराज़गी का पता न चलना ही स्वाभाविक था।

पर जब बुखार से उठकर मैं कालेज पहुंची तो तुम्हें देखते ही मेरी नाराजगी पिघल गई। तब से आज तक कभी ऐसा नहीं हुआ कि तुम्हें सामने देखकर मैं तुमसे नाराज रह पाई होऊं।

तुम बड़े आत्मीय मित्र के समान मिले, प्रेमी के समान नहीं। जो कुछ उस रात गाड़ी में घटित हुआ, उसके बाद भी तुम प्रेमी क्यों नहीं बने—यह मैं कभी समझ नहीं पाई। या तो तुमने मेरा भी वैसा ही तिरस्कार किया होता, जैसा कि प्रमिला का किया था, तो मैं मान लेती कि तुम मुझे पसंद नहीं करते। पर तुमने कभी मेरा तिरस्कार भी तो नहीं किया। तुम जिस आतुरता से मिलते रहे हो, मेरे प्रति संवेदना जताते रहे हो, मेरी सहायता करते रहे हो—उन सबको देखते हुए, मैं कभी यह मान ही नहीं सकी कि तुम मुझे पसंद नहीं करते।···आज भी जिस आग्रह से तुम मुझे अपने घर लाए हो, जिस आत्मीय ढंग से हमने आज का दिन बिताया है, उसे देखते हुए, बार-बार मेरे मन में यही प्रश्न उठता है कि तुम मेरे प्रेमी क्यों नहीं बन सके ?

पर खैर, कालेज में हम रोज ही मिलते रहे। प्रायः कालेज जाना भी इकट्ठे ही होता था। रास्ते-भर हम दोनों ही साथ ह[illegible] उस दृष्टि से एकांत भी काफी था।···फिर तुम मेरे घर आने [illegible]

तुम्हारे घर जाने लगी···पर तुमने कभी भी प्रेमी का रूप नहीं अपनाया। मेरे रूप की प्रशंसा नहीं की, छेड़-छाड़ नहीं की, न कभी तुम भावुक हुए, न तुम्हारे हाथ बहके।···तुमने अपनी मर्यादा का उल्लंघन कभी नहीं किया, कभी भी नहीं। तुम्हारे पैरों ने फिसलना तो जाना ही नहीं था, वे कभी डगमगाए भी नहीं।

तुम मुझसे मिलने को आतुर रहते थे। न मिल पाने पर परेशान होते थे। मेरी ओर से मिलने में बाधा होती तो अपना रोष प्रकट करते। तुम्हें मेरी संगति अच्छी लगती थी। पर तुमने कभी नहीं सोचा कि तुम पुरुष हो, और मैं नारी ?···हममें स्त्री-पुरुष का आकर्षण भी हो सकता है, हम प्रेम भी कर सकते हैं, हम विवाह कर, पति-पत्नी भी बन सकते हैं—यह सब क्यों नहीं आया तुम्हारे मन में ? क्या तुम मेरी संगति मात्र से ही तृप्त हो जाते थे ? क्या मैं तुम्हें कभी उससे अधिक के योग्य नहीं लगी ?···

केतकी ने करवट बदली। नींद का कहीं भी पता नहीं था और मन था कि मकड़े के समान जाला बनाकर, न केवल उसमें लटक गया था, वरन् लगातार उसमें उलझता जा रहा था···

उस दिन मैं उदास थी, बहुत उदास। इतनी उदास कि तुमसे उसे छिपा भी न पाई। कालेज में तुम मुझे देखते रहे और भांपते रहे। घर लौटते हुए तुमने पूछा, "क्या बात है केतकी ! इतनी उदास क्यों हो ?"

वह दृश्य बहुत सजीव रूप में याद है मुझे, आज भी।

"कुछ परेशानियां हैं, घर की।" मैंने तुम्हें टालना चाहा था।

पर तुम टले नहीं, "जरूरी नहीं कि तुम्हारी परेशानियां मैं दूर कर सकूं, पर सुन तो सकता ही हूं। संभवतः सांत्वना ही दे सकूं।" तुमने रुककर अन्वेषक दृष्टि से मुझे देखा, "वैसे By the way कोई गोपनीय बात है क्या ?"

"सार्वजनिक तो नहीं ही है," मैंने कहा, "पर ऐसी गोपनीय भी नहीं है।"

"आत्मीय लोगों से गोपनीय न हो, तो मुझे बता दो।" तुमने कहा था।

तुम्हारे शब्दों के प्रयोग पर मैं सदा ही रीझी थी। तुमने कितने संक्षेप में कितनी स्पष्ट बात कह दी थी। तुम मेरे आत्मीय थे।···मुझे लगा था, मैं इतने में ही संतुष्ट हूं। तुम आत्मीय हो तो तुमसे क्या छिपाना···

"बात यह है कि···" और सहसा मैं इस तथ्य के प्रति सजग हुई कि मैंने तुम्हें आज तक यह तो बताया ही नहीं कि मेरी सगाई हो चुकी है···

"क्या बात है ?"

डी० एम० मॉडर्न स्कूल से आने वाली सड़क जहां के० रोड से मिलती है, वहीं एक ओर हम रुक गए थे। फुटपाथ पर, पेड़ की छाया में। तुम उत्सुकता और जिज्ञासा से मेरी ओर देख रहे थे और मैं समझ नहीं पा रही थी कि तुम्हें कैसे और किन शब्दों में बताऊं।

"यदि कोई असुविधा हो तो रहने दो।"

मैं चिंतित हो गई : ऐसा न हो कि मैं अपने असमंजस में कह न पाऊं और तुम उसे मेरा अति व्यक्तिगत मामला मानकर आग्रह करना छोड़ दो। फिर मैं किसे बताऊंगी ? मेरे मन का बोझ हल्का कैसे होगा ?···

"बात यह है विनीत !" मैंने कहा था, "कि मेरे जीवन में कभी एक दुष्ट ग्रह उदित हुआ था। उस ग्रह को मैं लगभग भूल चुकी थी, पर अचानक ही वह फिर धुंधलके में से बाहर निकल आया है। वह अभी मुझे तपा तो नहीं रहा, पर उसकी छाया मुझ पर पड़ रही है।···"

"स्पष्ट बताओ।" तुमने बहुत धैर्य से कहा था।

"मैट्रिक पास करते ही मेरे घर वालों ने मेरी सगाई कर दी थी।"···

'तुमने कैसे तो मुझे देखा था, "तुम्हारी सगाई हो चुकी है ?"

"हां।" मेरे मन का अपराध-बोध बहुत प्रबल हो उठा—मैंने तुमसे क्यों छिपाया ! पर मैंने छिपाया कहां ? इस बात को तो मैं स्वयं ही भुला बैठी थी। यह तो मेरे जीवन की ऐसी घटना थी, जिसे मैं स्वयं एक दुःस्वप्न ही मानती थी।

"तुमसे मिलने से पहले के मेरे जीवन की कभी कोई चर्चा ही नहीं हुई।" मैंने कहा था, "और वैसे भी यह कोई ऐसी महत्त्वपूर्ण बात तो थी नहीं···।"

"तो अब क्या हो गया ?" तुमने पूछा था।

"उनका पत्र आया है कि मैं पहले ही बहुत पढ़ चुकी हूं। वे नहीं चाहते कि मैं बी० ए० भी कर जाऊं। उन्हें बी० ए०, एम० ए० लड़की नहीं चाहिए।"

"कौन लोग हैं वे ?"

"कानपुर के पास एक कस्बा है—कन्नौज···"

"ऐतिहासिक कन्नौज ?"

"हां। वही।" मैंने बताया था, "वहीं हैं। लड़का मैट्रिक पास है और किसी फैक्टरी में इलैक्ट्रिशियन है।"

"तुमने देखा है उसे ?" तुमने पूछा था।

"नहीं।" मैंने बताया था, "वह तो पिताजी की एक चचेरी बहन ने चर्चा चलाई थी। पिताजी ने 'हां' कर दी। पिताजी तो आज भी मानते हैं कि बिरादरी में हमें इससे अच्छा लड़का नहीं मिलेगा; और बिरादरी से बाहर उन्हें शादी करनी नहीं है।"

"तो समस्या क्या है ?" तुमने बड़े निस्पृह भाव से पूछा था।

"अरे, वे मेरी पढ़ाई छुड़ा रहे हैं।" मैंने कहा था, पर यह नहीं कह सकी कि पढ़ाई छोड़ दी, तो तुमसे भी वियोग हो जाएगा। तुमसे रोज ऐसे मिलना कैसे संभव होगा ?···

"शादी कब की है ?" तुम पूरी तरह गंभीर थे।

"शादी की तो अभी कोई बात ही नहीं हुई है।"

"तो भूल जाओ।" तुमने कहा था।

"समस्या है, पिताजी उन्हें क्या लिखें ?"

"पिताजी पढ़ाई छोड़ने को कहते हैं ?"

"नहीं। पिताजी तो नहीं कहते।"

"तो जो उनके मन में आए लिख दें।" तुमने कहा था, "लिख दें कि लड़की बी० ए० तो करेगी ही और उसका मन हुआ तो एम० ए० भी करेगी।"

"पिताजी उन्हें नाराज नहीं करना चाहते।"

"यदि सच बोलना है तो दो में से एक को तो नाराज करना ही

पड़ेगा—तुम्हें या उन्हें। चुनाव पिताजी स्वयं कर लें।" तुमने बहुत स्पष्ट कहा था, "या फिर उन्हें कोई गोल-मोल बात लिख दें या मान लें कि उन्हें वह पत्र मिला ही नहीं है।" तुमने मेरी ओर देखा था, "तुम अपनी पढ़ाई करो, और भूल जाओ इन बातों को। जब विवाह का अवसर आएगा, तब सोचना। और मेरी अपनी दृष्टि में तो संसार में कोई पुरुष इतना श्रेष्ठ नहीं है, जिसको पति-रूप में पाने के लिए स्त्री अपना विकास अवरुद्ध कर ले।"

जाने क्यों मुझे लगा कि पवित्र शास्त्र-वाक्य भी किसी समय ऐसे ही किसी के मुख से उच्चारित होते रहे होंगे। तुम ठीक ही कह रहे हो···

"मानव-जन्म का तो लक्ष्य ही एक है—आत्मविकास।" तुम कह रहे थे, "समाज और राष्ट्र इसीलिए बने कि हम अपना विकास करें। माता-पिता, बहन-भाई, पति-पत्नी वे ही हैं, जो एक-दूसरे के विकास में सहायक होते हैं। किसी के विकास में विघ्न खड़ा करने वाला तो शत्रु ही हो सकता है, क्योंकि विकास का ही दूसरा नाम सामर्थ्य है···।"

जाने तुमने अपने मन की बात कही थी, या कहीं पढ़ा हुआ वाक्य दुहरा रहे थे; पर मेरे जीवन का सत्य यही था। मेरे लिए वह पवित्र ईश्वरीय वाणी थी। मेरा विषाद धुल गया।···मैंने उसी क्षण निर्णय किया कि अब अपने इस जीवन में तो मैं किसी की मानूंगी नहीं। मेरा भी लक्ष्य आत्मविकास ही होगा···

पर घर जाकर जब कुछ एकांत हुआ और शांत मन से कुछ सोचने-समझने का अवसर मिला तो मेरा अपना मन ग्लानि और अपराध-बोध से भर गया···मेरा मन बार-बार मुझे धिक्कार रहा था और बार-बार मुझसे पूछ रहा था कि मेरी सगाई हुई थी या नहीं? मैं किसी की मंगेतर हूं या नहीं?···और यदि हूं तो फिर तुम्हारे प्रति मेरे मन में यह सब क्यों जागता है?···गाड़ी में मेरा मन इतना शिथिल क्यों हो गया था···और यदि मैं यह मान लूं कि मैं तुममें अनुरक्त हूं तो फिर मैं किसी और की मंगेतर क्यों हूं? कैसे हूं?···मैं ये दोनों संबंध कैसे निभा सकती हूं?

मैं तुम्हें कभी नहीं बता सकी कि उन दिनों मैं कितनी दुर्बल थी। न मैं तुमसे नाता तोड़ सकती थी और न मैं पिताजी से कह सकती थी कि कन्नौज

में बैठे उस अपरिचित व्यक्ति से मेरा कोई संबंध नहीं है।…बड़ी रात गए तक मैं असमंजस में पड़ी अपने द्वन्द्वों से उलझती-सुलझती रही, पर किसी से भी नाता तोड़ने का निर्णय मैं नहीं कर सकी। अंततः मैंने तुमसे ही मार्ग पाया। तुम यदि मेरे इतने आत्मीय होकर भी अपनी मर्यादा नहीं छोड़ते तो मैं भी क्यों इतनी आतुर हूं। मैं क्यों न तुमसे ही संयम सीखूं, तुम्हारी ही तरह मर्यादित रहूं। तुम्हारे निकट भी रहूं और अपने तन-मन को संभाले भी रहूं। मैं भी तुम्हारी संगति से ही तृप्त रहूं। उससे अधिक कुछ न मांगूं, कुछ न चाहूं। जो मिला है, उसी से संतुष्ट रहूं। व्यर्थ ही याचक क्यों बनूं ?…

मेरी संतुष्टि का यह स्वप्न, तब तक बहुत सुखद ढंग से चलता रहा, जब तक जमशेदपुर में रहे। तुम जमशेदपुर में थे तो मेरे पास थे। मेरे साथ थे। कालेज में तो हम मिलते ही थे। कालेज के नाटकों में, साहित्य परिषद् के उत्सवों में, लेखक-मंडल की गोष्ठियों में सब जगह हम साथ-साथ थे। उस पर भी यदि मन चाहे या और कोई आवश्यकता हो तो बड़े सहज रूप में मैं तुम्हारे घर चली जाया करती थी, तुम मेरे घर आ जाते थे। जीवन इतना स्थिर और निश्चित था कि कभी ऐसा लगा ही नहीं कि तुम मेरे पास नहीं हो।…पर बी० ए० की परीक्षाओं के पश्चात् जब तुमने बताया कि एम० ए० के लिए तुम दिल्ली जा रहे हो, तो मेरे पैरों के नीचे से ज़मीन खिसकनी आरंभ हुई…

तुम दिल्ली जाने की तैयारियों में लगे थे। दिल्ली के रामजस कालेज में तुम्हारा दाखला भी हो गया था।…पर तुम्हारे व्यवहार में कोई अंतर नहीं था। तुमने मुझे एक बार भी नहीं कहा कि हम साल-दो साल के लिए अलग हो रहे हैं, केतकी ! मेरी प्रतीक्षा करना। तुमने यह भी बताया कि यदि एम० ए० में तुम्हारा परिणाम अच्छा रहा और दिल्ली में तुम्हें नौकरी मिल गई तो तुम वहीं नौकरी कर लोगे। पर तुमने एक बार भी नहीं कहा, "केतकी ! मैं तुम्हें भी दिल्ली बुला लूंगा।"

तब तक जितना मैं तुम्हें जानती थी, उससे स्पष्ट था कि तुम बहुत

पहले ही अपना भविष्य निर्धारित कर लिया करते थे। तुम अपनी पढ़ाई के विषय में सोचते थे, अपनी नौकरी के विषय में सोचते थे; तो यह कैसे संभव था कि तुम अपनी पत्नी के विषय में न सोचते रहे हो।···और तुम यदि मुझसे कोई चर्चा नहीं कर रहे थे, इसका अर्थ था कि मुझे जो स्थान तुम्हारे जीवन में प्राप्त है, इससे अधिक का अवकाश तुम्हारी ओर से नहीं था···

मेरा संयम, मेरी मान-मर्यादा, मेरा धैर्य—सब कुछ जैसे अचानक ही चुक गया।···मैंने तय किया कि चाहे मेरा अहंकार मुझे रोके, चाहे मैं अपनी ही नज़रों में गिर जाऊं, पर इतनी सुविधा से मैं तुम्हें छोड़ नहीं दूंगी। मैं तुम्हें पाने का प्रयत्न करूंगी। आंचल पसारकर यदि तुमसे तुमको मांग न भी सकूं, तो भी ऐसे अवसर तो पैदा करूंगी ही कि तुम मेरे लिए कुछ अधिक महसूस कर सको···

मैंने तुम्हें एक फिल्म देखने के लिए निमंत्रित किया। इससे अधिक रोमानी वातावरण की कल्पना मैं कर नहीं पाई।···न मैं अपना संकोच पूरी तरह त्याग सकी···इसलिए स्वीकृति को भी साथ ले गई।

टिकटें मैंने मंगवा ली थीं। तुम फिल्म देखने के लिए सीधे थियेटर में ही आए। अंधेरे हॉल में तीन घंटे तुम मेरे साथ की सीट पर बैठे रहे। पर न तुम्हारा हाथ तनिक भी बहका, न तुम्हारी बातें रसयुक्त हुईं। तुमने बहुत शिष्ट और मर्यादापूर्ण पुरुष के समान फिल्म देखी। जितनी बातें हुईं, सब तुम्हारी दिल्ली-यात्रा और भावी पढ़ाई के विषय में थीं। तुम रांची विश्वविद्यालय में प्रथम आकर भी अपनी छात्रवृत्ति छोड़ रहे थे, क्योंकि तुम अपना विश्वविद्यालय बदल रहे थे। नए विश्वविद्यालय का थोड़ा-सा भय तुमको था, पर तुममें आत्मविश्वास की कमी नहीं थी। तुम बड़े उल्लास के साथ मुंह उठाए हुए अपने जीवन के नव-प्रभात को देख रहे थे···

मैं कुछ निराश ही हुई। तुम चाहते तो बड़ी सुविधा से मेरे कंधों या मेरी कमर को अपनी बांह से घेर सकते थे; मेरे कंधे पर अपना सिर टिका सकते थे; मेरी हथेली को अपनी हथेलियों में ले सकते थे।···सच कहती हूं, तब मैंने रत्ती-भर भी विरोध न किया होता। यदि तुमने ऐसा कुछ

किया होता तो उसे मैंने तुम्हारे प्रेम का प्रस्ताव मानकर उसका स्वागत किया होता।

पर तुमने वैसा कुछ नहीं किया। थियेटर से बाहर निकलकर तुमने मुझे अपनी टिकट के पैसे देने का प्रयत्न किया।···मैं समझ गई कि जैसे विवाह से पहले ही कन्या मानसिक रूप से अपने ससुराल का अंग हो जाती है और मायका उसके लिए पराया हो जाता है, वैसे ही तुम दिल्ली के हो चुके हो। जमशेदपुर तुम्हारे लिए पराया हो चुका है और साथ ही मैं भी···

पर मैंने जाते-जाते भी एक प्रयत्न और करना चाहा। अब तक कभी भी तुम्हें बांध रखने की इतनी उत्कट इच्छा नहीं हुई थी; पर उस समय जब तुम मेरे जीवन में से निरंतर फिसलते जा रहे थे और पीछे एक विराट् रिक्ति छोड़ते जा रहे थे, तब तुम्हें बांधने की इच्छा मेरे मस्तिष्क की भीतरी दीवारों को ऐसे थपेड़े मार रही थी, जैसे सागर की उत्ताल तरंगें किनारे की चट्टानों को मारती हैं···

पर अब कुछ हो नहीं सकता था। तुम दिल्ली चले गए। न केवल चले गए, बल्कि वहीं के हो गए। तुमने अपने पत्रों में अपने नए प्रेम-प्रसंग की चर्चा की···बातें मेरे सामने साफ होने लगीं। तुम्हारे मन में मेरे प्रति प्रेम-भाव नहीं था। तुम मेरे साथ प्रेम का अभिनय भी नहीं कर रहे थे; नहीं तो अपने पत्रों में अपने प्रेम-प्रसंग की चर्चा इस प्रकार न करते। तुम मुझे अपने नए प्रेम के विषय में इस प्रकार सूचनाएं दे रहे थे, जैसे उसे जानकर मेरे मन में ईर्ष्या का जन्म नहीं होगा, जैसे मैं स्वय को वंचित नहीं ठहराऊंगी···जैसे मैं तुम्हारा कोई आत्मीय पुरुष मित्र रही होऊं। तुम्हारे मन में मेरे प्रति शायद सखी-भाव ही था, नारी-बोध शायद नहीं था···

पर आज तक इस प्रश्न ने मेरे मन को कभी नहीं छोड़ा कि क्या तुम मुझसे प्रेम नहीं करते थे? मेरे प्रति तुम्हारा आकर्षण कैसा था? इस आकर्षण का नाम क्या था? क्या तुम्हारे मन में मेरे प्रति कभी वासना भी नहीं जागी?···

बहुत बार लालच आया कि तुमसे ही पूछूं, "विनीत! हमारे रिश्ते का नाम क्या है? इसकी कोई भी संज्ञा नहीं है-क्या?"

जब-जब मैंने तुमसे पूछा कि क्या मल्लिका तुमसे प्रेम नहीं करती थी? जब-जब मैंने जानना चाहा कि तुम दोनों के संबंध का नाम क्या था?—तब-तब मैं यही पूछ रही थी, 'विनीत! क्या तुम मुझसे प्रेम नहीं करते थे?' 'विनीत! हमारे संबंधों की संज्ञा क्या होनी चाहिए?'···

मैंने तुम्हारी प्रीति-कथा बहुत ध्यान से सुनी है। तुमने स्वयं विश्लेषण किया है कि तुम मल्लिका से प्रेम नहीं करते थे।···तुम्हारी ही तरह मैं विश्लेषण करूं या तुम मेरे व्यवहार का विश्लेषण करो तो शायद यही कहा जाएगा कि मैं तुमसे प्रेम नहीं करती थी। मैं तुम्हें प्राप्त करना चाहती थी, पर अपने-आपको बचाकर रखना चाहती थी। विसर्जन नहीं था मेरे व्यक्तित्व में। शरीर और मन का विगलन भी, अहं का विगलन नहीं कर पाता—यही सीखा है मैंने तुम्हारे विश्लेषण से।···तुम्हें जिस क्षण यह पता चला कि मुझे बुखार है, तुमने मेरे व्यवहार को एक रोगी की असहायता मान लिया होगा···तुम्हें जिस क्षण मालूम हुआ कि मेरी सगाई हो चुकी है, तुमने उसी क्षण से मुझे प्रेमिका या पत्नी के रूप में पाने की कामना छोड़ दी होगी। पर यदि मैं विसर्जन के लिए तैयार होती, यदि मैं अपनी सगाई तोड़ देती और जीवन की आग में तुम्हारे नाम पर स्वयं को जला डालती तो तुम मेरा तिरस्कार नहीं कर सकते थे···एक बात तुम अपने विषय में नहीं जानते, जो मैं जानती हूं···तुम्हारे अपने निर्णय, अपने राग-द्वेष, अपनी पसंद-नापसंद सब कुछ है, किंतु तुम दूसरों की भावनाओं को प्रतिबिंबित भी करते हो, यदि दूसरी ओर से दुराग्रह न हो तो···तुम अपनी भावना का सम्मान चाहते हो और दूसरों की भावना का सम्मान करते भी हो···

किंतु यह सारा तुम्हारा विश्लेषण होगा। मेरा विश्ले[illegible]
है कि मेरे भाग्य में तुम नहीं थे, इसीलिए नियति मुझसे [illegible]
किसी-न-किसी बहाने की आड़ में मुझे छलती रही···
पैटर्सन की पत्नी होकर कैनेडा में ही बसना था और तु[illegible]
के रूप में पाना था। तुम्हें संतान-सुख पाना था और
रहना था। फिर हम पति-पत्नी कैसे हो सकते थे?
मुझे तुमसे कोई शिकायत नहीं है···तुमने मल्लिका

अपनी चाह में पाई, मैं अपने प्रेम की कमी को स्वीकार कर रही हूं···

प्रातः केतकी उठी तो विनीत से और भी सहज रूप से मिली।

"विनीत! आज मुझे गेस्ट हाउस ले चलो।" वह बोली, "मैं अपना सामान तो ले आऊं।"

विनीत की आंखों में कुछ प्रश्न उभरे।

"मैं एक दिन यहां रहकर चोरों के समान भाग जाना नहीं चाहती।" वह बोली, "मैं यहां तब तक रहना चाहती हूं, जब तक शोभा लौट नहीं आती। तुम्हारे नाते वह मेरी भी आत्मीय है। तुम्हारे बच्चों से भी मिलना चाहती हूं। वे भी तो देखें कि पापा की सखी कैसी है।"

"वे 'सखी' शब्द नहीं जानते।" विनीत हंसा, "वे तो केवल गर्ल-फ्रेंड से परिचित हैं।"

"तभी तो चाहती हूं कि वे मुझसे भी परिचित हो लें।" केतकी बोली, "तुम्हें कोई आपत्ति तो नहीं है?"

"मुझे क्या आपत्ति होगी।" विनीत बोला, "मुझे प्रसन्नता है कि तुमने मुझे ही नहीं, मेरे सारे परिवार को अपना समझा।"

"अच्छा! तो फिर तैयार हो जाओ। मैं तुम्हारे लिए चाय बना रही हूं।"

केतकी रसोई में चली गई।

□ □

दूसरा सूरज	रामकुमार भ्रमर	12-00
कोकिला	रमणलाल वसन्तलाल देसाई	15-00
जीवन यात्रा	सुरेन्द्र माथुर	24-00
मर्यादा के बंधन	शक्तिपाल केवल	22-00
सिरफिरा	डा० लक्ष्मीनारायण गर्ग	20-00
महादानी	डा० राजेन्द्र मोहन भटनागर	25-00
देवलीना	डा० राजेन्द्र मोहन भटनागर	25-00
वज्राघात	हरिनारायण आप्टे	अप्राप्य
धूप और कोहरा	राजीव शर्मा	16-00
दुर्ग	विष्णु कुमार जोशीला	20-00
चकाचौंध	विष्णु कुमार जोशीला	20-00
रेत का महल	विनोद त्यागी 'इन्द्र'	18-00
तपन	विनोद त्यागी 'इन्द्र'	20-00
बुद्धिमान मूर्ख	महावीर प्रसाद गैरोला	12-00
विश्व विजय	राजकुमार अनिल	अप्राप्य
छंटते बादल	सुरेन्द्र सलूजा	15-00
अभागिनी ममता	सुरेन्द्र सिंह जौहर	अप्राप्य
धरातल	ब्रजभूषण	35-00
गोमती मंगल	ब्रजभूषण	18-00
मंगलोदय	ब्रजभूषण	25-00
भूल का शूल	ब्रजभूषण	18-00
देसी और परदेसी	सूरजदेव प्रसाद श्रीवास्तव	18-00
मौजगिरी	सूरजदेव प्रसाद श्रीवास्तव	22-00
अभिशाप	सूरजदेव प्रसाद श्रीवास्तव	20-00
तूफान के बाद	जगन्नाथ प्रभाकर	12-00
आत्म-कथा	परमहंस प्रमोद	12-00
मुन्नी	आचार्य सर्व	22-00